ब्याज का हराम होना

क्या आज भी क़ाबिले-अमल है?

लेखक

डॉ॰ मुहम्मद उमर छापरा

उर्दू अनुवाद

मुज़फ़्फ़र क़ुरैशी

हिन्दी अनुवाद

मुनाज़िर हक़

विषय-सूची

अध्याय : 3

प्राक्कथन

डॉक्टर मुहम्मद उमर छापरा किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं, वे अर्थ-जगत् की एक महान शख़्सियत हैं और विगत 30 वर्षों से वित्तीय विषयों, विशेषकर इस्लामी अर्थव्यवस्था और बैंकिंग प्रणाली पर लिखनेवाली अहम शख़्सियतों में अलग स्थान रखते हैं। इस विषय पर उनकी बारह किताबें और 80 के लगभग शोध लेख अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अलावा उनकी विभिन्न पुस्तकों एवं लेखों के बारह भाषाओं में अनुवाद भी हो चुके हैं। डॉ॰ उमर छापरा अपने व्यापक ज्ञान, सन्तुलित विचार और वास्तुपरक चिन्तन के कारण तमाम बुद्धिजीवी वर्ग में सम्मान की निगाह से देखे जाते हैं। दुनिया भर की विभिन्न यूनिवर्सिटियों और शोध संस्थाओं में इस्लामी अर्थव्यवस्था और बैंकिंग के विषय पर उनके व्याख्यानों को आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इनमें अमेरिका, इंग्लैंड, स्पेन, इटली, तुर्की, मिस्र, उर्दुन, ईरान और इन्डोनेशिया आदि शामिल हैं। डॉ॰ छापरा को इन्हीं मूल्यवान बौद्धिक सेवाओं के आधार पर 1989 ई॰ में इस्लामी विकास बैंक का अवार्ड और मलिक फ़ैसल-फ़ाउंडेशन की ओर से शाह किंग फ़ैसल अवार्ड प्रदान किया जा चुका है।

डॉ॰ छापरा अमेरिका की विस्कॉन्सिन (Wisconsin) और केंटकी (Kentucky) यूनिवर्सिटियों में असिस्टेंट और एसोसिएट प्रोफ़ेसर की हैसियत से अपनी सेवाएँ प्रदान कर चुके हैं और पाकिस्तान के इन्सटीट्यूट ऑफ़ डेवेलपमेंट इकोनॉमिक्स और इंस्टीट्यूट ऑफ़ इस्लामिक रिसर्च में भी कुछ समय तक काम कर चुके हैं। अमेरिका में भी उन्हें ख़ासा मान-सम्मान मिला है, परन्तु उन्होंने अपने स्थाई निवास के लिए सऊदी अरब को चुना, जहाँ उन्होंने 35 वर्षों तक सऊदी केन्द्रीय बैंक (सऊदी अरेबियन मॉनेटरी

एजेन्सी) में 1965 ई॰ से 1999 ई॰ तक वित्तीय सलाहकार की हैसियत से सेवा दी। सऊदी सरकार ने उनकी मूल्यवान सेवाओं को मान्यता देते हुए 1983 ई॰ में उस समय के वित्तमंन्त्री शेख़ मुहम्मद अबा-अलख़ैल की सिफ़ारिश पर सऊदी नागरिकता प्रदान की। उस समय मलिक ख़ालिद-बिन अब्दुल-अज़ीज़ शासनाध्यक्ष थे। SAMA (Saudi Arabian Monetary Agency) से रिटायरमेंट के बाद इस्लामी विकास बैंक की जद्दाह् (Jeddah) में स्थित शाख़ा इस्लामिक रिसर्च एण्ड ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट ने सलाहकार के रूप में उनकी सेवाएँ प्राप्त कर ली हैं।

डॉ॰ उमर छापरा अविभाजित भारत में 1933 ई॰ में पैदा हुए। प्रारम्भिक शिक्षा मुम्बई में प्राप्त की। पाकिस्तान बनने के बाद परिवार के साथ विस्थापित होकर कराची आ गए और उच्च श्रेणी में मैट्रिक, बी-कॉम और एम-कॉम करने के बाद 1961 ई॰ में अमेरिकी यूनिवर्सिटी ऑफ़ मिनोसोटा (Minnosota) से पी-एचडी की डिग्री प्राप्त की। वे छात्रजीवन से ही इस्लाम की सेवा की भावना से परिपूर्ण रहे और अब तक अल्लाह की कृपा से इस काम में लगे हुए हैं। डॉ॰ छापरा की यह किताब उनके तीन अंग्रेज़ी शोधपत्रों का अनुवाद है। बौद्धिक क्षेत्रों में व्यापक ख्याति प्राप्त करनेवाले ये शोधपत्र कुछ वर्ष पूर्व सऊदी अरब में प्रकाशित हुए थे और फिर दक्षिण अफ़्रीक़ा की इस्लामिक दावा मूवमेंट (Islamic Dawah Movement) ने इन शोधपत्रों को इकट्ठा करके पुस्तक रूप में प्रकाशित किया था। डॉ॰ छापरा ने इस किताब में ऐसे सवालों के भी जवाब दिए हैं जो विशेष महत्व रखते हैं। इसके अलावा वर्तमान समय के उन अहम सवालों के भी जवाब दिए गए हैं जिनका सामना ब्याज के हराम होने के विषय से दिलचस्पी रखनेवालों को प्रायः करना पड़ता रहता है। जैसे—क्या इस्लाम ने वाक़ई ब्याज को हराम क़रार दिया है? यदि हाँ, तो क्यों? और इसके पीछे क्या तत्वदर्शिता काम कर रही है? और सबसे अहम सवाल यह कि ब्याज के बिना बैंकिंग की कोई वैकल्पिक व्यवस्था सम्भव है जो वर्तमान समय में स्वीकार्य एवं व्यावहारिक भी हो, क्योंकि इस समय की परिस्थितियाँ पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल॰) के समय से बिलकुल भिन्न हैं।

अन्त में अल्लाह से दुआ है कि इस किताब के मुद्रण एवं प्रकाशन क कार्य में शरीक सभी लोगों को इसका अच्छा बदला दे और इस किताब को लोगों की सही दिशा में मार्गदर्शन का साधन और आख़िरत में हमारी नजात का ज़रीआ बना दे। आमीन!

–ग़ुलाम अहमद इस्माईल

प्रस्तावना

आज के आधुनिक दौर में पश्चिम से आयातित सांस्कृतिक सैलाब और उसके नतीजे में पैदा होनेवाले वैचारिक तूफ़ान ने जो समस्याएँ मुस्लिम जगत् में खड़ी कर दी हैं, उनमें यदि सबसे अहम नहीं तो कम-से-कम एक अहम समस्या ब्याज के निषेध होने (हराम होने) के आदेश पर अमल और एक ग़ैर-ब्याजी आर्थिक एवं वित्तीय व्यवस्था की स्थापना में रुकावटों और उलझनों की समस्या है। एक समय था कि ब्याज के हराम होने का यक़ीन एक मुसलमान के ईमान का अंग होता था और ब्याज जैसी बुरी चीज़ से दूरी उसके वित्तीय जीवन का सबसे अहम पहलू समझा जाता था। आरम्भिक इस्लाम से लेकर लगभग बारह-साढ़े बारह सौ साल तक मुसलमानों का आर्थिक जीवन ब्याज की मिलावट से बड़ी हद तक पाक रहा। इक्का-दुक्का व्यक्तिगत और स्थानीय अपवाद के अलावा मुस्लिम जगत् की तमाम आर्थिक व्यवस्थाएँ पूर्णतः ब्याज रहित बुनियादों पर क़ायम रहीं।

हालाँकि इस्लाम के फ़ुक़हा (इस्लामी विद्वानों), क़ुरआन के मुफ़स्सिरीन (भाष्यकारों) और हदीस के शारिहीन (व्याख्याकारों) ने ब्याज के हराम होने की हिकमतों और मसलिहतों पर अपने-अपने समय में विस्तार से वार्ता की, परन्तु इन वार्ताओं की अहमियत प्रायः सैद्धान्तिक ही रही। इसलिए कि एक आम मुसलमान के लिए ब्याज की लानत से बचने के लिए इतना ही काफ़ी था कि शरीअत ने ब्याज को हराम क़रार दिया है। ब्याज से बचने के लिए कोई मुसलमान कभी ब्याज के हराम होने की दलीलें और हिकमतें जानने को पेशगी शर्त क़रार देने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। इसलिए ब्याज के हराम होने की हिकमतों के बारे में इमाम राज़ी, इमाम ग़ज़ाली, अल्लामा काशानी और शाह वलीउल्लाह मुहद्दिस देहलवी जैसे महान विद्वानों की ज्ञानात्मक वार्ताएँ केवल पढ़े-लिखे वर्गों तक सीमित रहीं, और केवल उन्हीं लोगों की दिलचस्पी का विषय रहे, जिन्हें शरीअत की हिकमतों और तत्वदर्शिताओं को जानने की चिन्ता थी और हिकमत से ज़्यादा शरीअत की परवाह थी। आम लोगों में इन विचारों को आम करने की ज़्यादा ज़रूरत ही महसूस नहीं हुई।

आज के दौर में जहाँ इस्लाम की और बहुत-सी शिक्षाओं को विवाद एवं बहस का विषय बनाया गया वहाँ ब्याज के हराम होने के बारे में भी तरह-तरह के सन्देह पैदा किए गए। इस्लाम के ज्ञान की कमी, दीनी शिक्षा-दीक्षा और वातावरण का अभाव, अक़ीदों की कमज़ोरी, इस्लाम से ताल्लुक़ पर सन्तुष्टि की भावना के बजाय हीन-भावना, साहस और ईमान की ताक़त के बजाय क्षमा-प्रार्थी होने का रवैया, कारोबार और व्यापार के इस्लामी उसूलों पर अमल करने में आम सुस्ती, इन सब चीज़ों ने मिलकर ब्याज के हराम होने और ब्याज-व्यवस्था के व्यावहारिक होने के बारे में बहुत-से लोगों के ज़ेहनों में आज कई सवाल खड़े कर दिए हैं। मुस्लिम जगत् में व्यापार और अर्थव्यवस्था से जुड़े बहुत-से लोगों के ज़ेहनों में इस्लाम की इस अहमतरीन आर्थिक शिक्षा के बारे में शक-सन्देह पैदा हो गए हैं। इसका नतीजा यह निकला है कि दूसरे तो दूसरे और ग़ैर तो ग़ैर, अपनों के ज़ेहन भी साफ़ नहीं हैं, और ख़ुद मुस्लिम जगत् के एक अत्यन्त प्रभावशाली वर्ग की तरफ़ से ब्याज के पक्ष में आवाज़ें उठने लगी हैं।

इन हालात में इस बात की अत्यन्त ज़रूरत महसूस हुई कि ब्याज के हराम होने की हिकमतों और निहित हितों पर नए अन्दाज़ से शोध किया जाए और आज के दौर की भाषा और प्रचलित शब्दावली में यह स्पष्ट करने की कोशिश की जाए कि ब्याज क्या है? वह इस्लाम में क्यों हराम (निषेध) है? ब्याज के हराम होने की असल हिकमत क्या है? और क्या ब्याज रहित बुनियादों पर आज की विकसित अर्थव्यवस्था की रूपरेखा बनाई जा सकती है? और क्या इसकी बुनियाद पर बैंकिंग व्यवस्था की स्थापना सम्भव और व्यावहारिक है।

बीसवीं सदी में विभिन्न प्रख्यात विद्वानों ने इस चैलेंज को स्वीकार किया और मुस्लिम जगत् का वैचारिक मार्गदर्शन किया। इन लोगों में मिस्र के शैख़ मुहम्मद अबू-ज़ोहरा और डॉक्टर महमूद अबू-अस्सऊद, इराक़ के अल्लामा मुहम्मद बाक़र-अस्सद्र, भारत के डॉक्टर नजातुल्लाह सिद्दीक़ी वग़ैरा के अलावा पाकिस्तान के डॉक्टर अनवर इक़बाल क़ुरैशी, मौलाना मुफ़्ती मुहम्मद शफ़ी, मौलाना सैयद अबुल-आला मौदूदी, प्रोफ़ेसर शैख़ महमूद अहमद और इस किताब के विद्वान एवं प्रख्यात लेखक डॉक्टर

मुहम्मद उमर छापरा का काम सबसे प्रमुख है। अन्तिम दोनों हज़रात के लेख मूलतः अंग्रेज़ी भाषा में होने की वजह से अपेक्षाकृत ज़्यादा प्रभावी है, बल्कि सच तो यह है कि पश्चिम की आर्थिक व्यवस्था की विद्वतापूर्ण समालोचना और ब्याज के निषेध होने के इस्लामी अक़ीदे की ज्ञानात्मक व्याख्या में इन दोनों हज़रात के लेख न केवल इस्लामी अर्थव्यवस्था बल्कि जन-साधारण की आर्थिक व्यवस्था के विश्वव्यापी इतिहास का एक अहम अध्याय है। इन पंक्तियों के लेखक को यह बात कहने में कोई संकोच नहीं कि इस्लामी अर्थव्यवस्था के इतिहास में प्रोफ़ेसर शैख़ महमूद अहमद और डॉक्टर मुहम्मद उमर छापरा वही स्थान रखते हैं जो इस्लामी दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र में इमाम ग़ज़ाली और इमाम राज़ी को हासिल है।

प्रस्तुत पुस्तक डॉक्टर मुहम्मद उमर छापरा के तीन अहम और ज्ञानपूर्ण आलेखों के उर्दू अनुवाद पर आधारित है। डॉक्टर साहब ने इन तीनों आलेखों में, जो एक-दूसरे के पूरक हैं, ब्याज के हराम होने और इससे सम्बन्धित ज़रूरी बहसों को अत्यन्त तर्कसंगत और सारगर्भित रूप से बयान किया है। क़ुरआन में ब्याज के लिए प्रयुक्त शब्द रिबा और सूद के बीच अनावश्यक शाब्दिक बहस की बुनियाद पर कुछ लोगों ने जो अन्तर स्थापित करने की कोशिश की है, डॉक्टर साहब ने मज़बूत दलीलों से उसका खण्डन किया है। इसी प्रकार 'रिबा-अनूनसीआ' और 'रिबा-बिलफ़ज़्ल' के बीच के अन्तर को भी कुछ लोगों ने ब्याज का रास्ता खोलने के लिए इस्तेमाल करना चाहा है और आम मुसलमानों के ज़ेहनों में उलझनें पैदा करने की कोशिश की है। डॉक्टर छापरा ने हदीस की किताबों से प्रामाणिक हवालों की मदद से ब्याज के दोनों प्रकारों की स्पष्ट व्याख्या करके उलझनों के सारे रास्ते बन्द कर दिए हैं।

किताब का दूसरा अध्याय या आलेख ब्याज के हराम होने की हिकमत से बहस करता है। यहाँ विद्वान लेखक ने पूर्व के सम्मानित फ़क़ीहों (धर्मशास्त्रियों) की शैली से अलग हटकर विशुद्ध रूप से आर्थिक उसूलों की रौशनी में ब्याज के हराम होने की हिकमत बयान की है और बताया है कि ब्याज की लानत मानव कल्याण और न्याय व इनसाफ़ के रास्ते में सबसे बड़ी रुकावट है। इस आलेख में आर्थिक यथार्थ, दलीलों और रोज़मर्रा की

घटनाओं की रौशनी में बताया गया है कि न्याय, जो इस्लामी शरीअत का बुनियादी लक्ष्य है, उसी स्थिति में स्थापित हो सकता है जब इनसानों की भलाई और विकास के तमाम मान्य तक़ाज़े पूरे किए जाएँ। यह उसी वक़्त हो सकता है जब तमाम प्राप्त संसाधन इस अन्दाज़ से इस्तेमाल किए जाएँ कि उचित गति से सबका आर्थिक विकास हो और निम्नलिखित चार उद्देश्यों की प्राप्ति अच्छे से अच्छे अन्दाज़ में सम्भव हो :

1. तमाम इनसानों की जीवन सम्बन्धी ज़रूरतें पूरी हों।
2. तमाम लोगों को उनकी क्षमता-कौशल के आधार पर सम्माननीय रोज़गार प्राप्त हो ताकि वे अपनी मेहनत और प्रयास से अपनी जीवन सम्बन्धी ज़रूरतें पूरी कर सकें।
3. आमदनी और धन का वितरण न्यायसंगत हो।
4. आर्थिक एवं वित्तीय स्थिरता प्राप्त हो।

डॉक्टर मुहम्मद उमर छापरा ने दलीलों की रौशनी में यह दिखाया है कि ब्याज पर आधारित व्यवस्था की मौजूदगी में इन उद्देश्यों की प्राप्ति सम्भव नहीं है। ये उद्देश्य भलीभाँति केवल ऐसी व्यवस्था में पूरे हो सकते हैं जिनकी बुनियाद ब्याज के हराम होने और अन्य इस्लामी अवधारणाओं पर हो।

किताब के अन्तिम अध्याय या आलेख में ब्याज रहित बैंकिंग व्यवस्था के कुछ बुनियादी उसूलों की चर्चा करने के साथ-साथ डॉक्टर साहब ने कुछ ऐसे सवालों तथा सन्देहों का जवाब भी दिया है, जो ब्याज के पक्षधर लोग समय-समय पर उठाते रहते हैं।

मुझे यक़ीन है कि यह किताब इस्लामी अर्थव्यवस्था पर उर्दू हिन्दी में उपलब्ध किताबों में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, लाभकारी और मूल्यवान इज़ाफ़ा साबित होगी। मेरी दुआ है कि अल्लाह इस किताब को विद्वान और सम्मानित लेखक की अन्य किताबों की तरह लोकप्रिय और लाभकारी बनाए और उनके उस सपने को साकार करने की हम सब को तौफ़ीक़ दे जिसकी चमकती हुई झलकियाँ उनके हर लेख में मौजूद हैं।

इस्लामाबाद — **महमूद अहमद ग़ाज़ी**

17, रबीउल अव्वल, 1425 हिजरी
8 मई 2004 ई॰

अध्याय : 1

क्या ब्याज इस्लाम में वाक़ई हराम है?

रिबा या सूद—कौन-सी चीज़ हराम है?

यह सवाल प्रायः उठाया जाता है कि क्या इस्लाम में ब्याज वाक़ई हराम है? इसकी वजह यह है कि कुछ लोग यह दावा करते हैं कि इस्लाम ने जिस चीज़ को हराम क़रार दिया है वह ब्याज नहीं 'रिबा' है और ब्याज और रिबा एक ही चीज़ नहीं है। क्या इस दावे में कोई हक़ीक़त है?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि क़ुरआन और हदीस में जिस चीज़ को हराम क़रार दिया गया है वह रिबा है। क़ुरआन में चार विभिन्न स्थानों पर रिबा के हराम होने का उल्लेख है। सबसे पहले हराम होने का उल्लेख सूरा 30 की आयत 39 में हुआ जो मक्का में उतरी थी। शेष तीन स्थान सूरा 4, अन-निसा की आयत नम्बर 161, सूरा 3, आले-इमरान की आयत नम्बर 130 और सूरा 2, अल-बक़रा की आयतें 275-281 हैं। ये सभी आयतें मदीना में उतरीं। इनमें से सूरा अल-बक़रा वाली आयतें नबी (सल्ल०) की ज़िन्दगी के आख़री दौर में नाज़िल हुई थीं। इन्हीं आयतों में ब्याज के हराम होने का सख़्ती के साथ निर्देश दिया गया है। और रिबा लेने और देनेवालों की घोर निंदा की गई है। क़ुरआन, 2:279 में सख़्ती के साथ यहाँ तक कहा गया है कि जो लोग ब्याज लेते हैं उनके बिरुद्ध अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल०) की ओर से युद्ध का एलान किया गया है। इतने कठोर शब्द क़ुरआन ने किसी और जुर्म के लिए इस्तेमाल नहीं किए हैं। इन आयतों में यह स्पष्ट किया गया है कि रिबा और व्यापार एक समान नहीं हैं बल्कि दोनों में अन्तर है और मुसलमानों को यह हुक्म दिया गया है कि वे तमाम रिबा जो क़र्ज़ लेनेवालों पर बाक़ी है उसे माफ़ कर दें।

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने भी साफ़-साफ़ शब्दों में रिबा को हराम क़रार दिया है और फ़रमाया है कि अल्लाह ने केवल उन लोगों पर लानत

(धिक्कार) नहीं भेजी जो रिबा लेते और देते हैं बल्कि उन लोगों पर भी जो रिबा के दस्तावेज़ लिखते हैं। और वे दो व्यक्ति भी जो गवाह बनते हैं।[1] नबी (सल्ल॰) ने जान-बूझकर रिबा लेने और देने को छत्तीस बार व्यभिचार करने और अपनी माँ के साथ उसी प्रकार दुराचार करने से भी ज़्यादा बड़ा दुष्कर्म क़रार दिया है।[2]

क़ुरआन और सुन्नत में रिबा की इतनी कठोर निंदा के होते हुए और अल्लाह के इस एलान के बाद कि "हमने तुम्हारे दीन (इस्लाम) को मुकम्मल (पूर्ण) कर दिया है" (5:3)। यह यक़ीन करना मुश्किल है कि इसके अर्थ को इतना अस्पष्ट रखा गया हो कि चौदह सौ साल गुज़रने के बाद भी कुछ लोग इसके वास्तविक अर्थों को समझने में असमर्थ हों। अतः यह ज़रूरी है कि रिबा के वास्तविक अर्थों को समझा जाए। इस मक़सद के लिए इस्लाम के मूल स्रोतों को देखना ज़रूरी है।

रिबा का शाब्दिक अर्थ है 'बढ़ना', 'ज़्यादा होना', 'फैलना', 'वृद्धि करना' आदि।[3] फिर भी हर वृद्धि को इस्लाम ने मना नहीं किया है। व्यापार

---

1. "हज़रत जाबिर (रज़ि॰) रिवायत करते हैं कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने ब्याज खानेवाले, ब्याज खिलानेवाले, ब्याजी समझौते को लिखनेवाले और इस समझौते के दोनों गवाहों पर लानत भेजी है और इस लानत में सब बराबर-बराबर शरीक हैं।" (हदीस : मुस्लिम, तिर्मिज़ी, अहमद)
2. "हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-हन्ज़ला (रज़ि॰), जिनकी शहादत के बाद फ़रिश्तों ने उन्हें ग़ुस्ल दिया, रिवायत करते हैं कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया कि एक दिरहम रिबा भी जानते-बूझते लेना 36 बार व्यभिचार करने से भी ज़्यादा संगीन है। (हदीस : अहमद, दारक़ुत्नी) और हज़रत अबू-हुरैरा (रज़ि॰) रिवायत करते हैं कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया कि ब्याज के 70 हिस्से हैं और उनमें सबसे कम संगीन एक व्यक्ति का अपनी माँ के साथ व्यभिचार करना है।" (हदीस : इब्ने-माजा, बैहक़ी)
3. 'रिबा' शब्द के अर्थ के लिए अरबी भाषा के प्रसिद्ध एवं जाने-माने शब्दकोष की किताबें देखें। उदाहरणतः इब्ने-मंज़ूर की 'लिसानुल-अरब', अज़-ज़ुबैदी की 'ताजुल-उरूस' और राग़िब-अल-असफ़हानी की 'अलमुफ़रदात-फ़ी-ग़रीबिल क़ुरआन।' यही अर्थ हमें क़ुरआन की सभी तफ़्सीरों में भी मिलते हैं।

में जो लाभ होता है उससे भी मूलधन में वृद्धि होती है, परन्तु इसकी मनाही नहीं की गई है। अतः यह सवाल पैदा होता है कि किस चीज़ की मनाही की गई है? इस सवाल का सही, ठोस एवं संतोषप्रद जवाब तो अल्लाह के रसूल (सल्ल०) से ही प्राप्त हो सकता है क्योंकि आप (सल्ल०) क़ुरआन को सबसे ज़्यादा अच्छी तरह समझते थे। एक हदीस में नबी (सल्ल०) ने क़र्ज़ के बदले किसी छोटे-से-छोटे तोहफ़े या सेवा प्राप्त करने को भी रिबा क़रार दिया है। एक और हदीस में है कि क़र्ज़ देनेवाले को मूलधन के अतिरिक्त एक प्लेट खाना देने या क़र्ज़ लेनेवाले की सवारी पर सवार होने से भी नबी (सल्ल०) मना फ़रमाया है।[4] अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की इस व्याख्या के बाद पहले से तय दर से धन का मुआवज़ा वुसूल करने की गुंजाइश तो किसी सूरत से पैदा नहीं होती। दूसरे शब्दों में ख़ुद अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने रिबा को उस चीज़ के बराबर क़रार दिया है, जिसे आम लोगों की भाषा में आजकल 'ब्याज' कहा जाता है।

रिबा की इसी परिभाषा की झलक हमें इस्लामी इतिहास के तमाम उलमा (विद्वानों) के लेखों में मिलती है। क़ुरआन की कोई भी तफ़्सीर (भाष्य) या हदीस की किताबों की कोई व्याख्या या अरबी भाषा का कोई भी शब्दकोश ऐसा नहीं है जिसमें रिबा को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया गया हो। मिसाल के तौर पर—अल-क़ुरतुबी (मृत्यु 671 हिजरी/1273 ई०), जिनकी गिनती क़ुरआन के प्रसिद्ध मुफ़स्सिरों (भाष्यकारों) में होती है, ने स्पष्ट शब्दों

---

4. ''हज़रत अनस-बिन-मालिक (रज़ि०) फ़रमाते हैं कि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने फ़रमाया कि यदि तुममें से कोई व्यक्ति किसी को क़र्ज़ दे और क़र्ज़ लेनेवाला क़र्ज़ की रक़म के अतिरिक्त उसे एक प्लेट खाना ही दे तो वह उसे स्वीकार न करे और अपनी सवारी पर सवारी करने की पेशकश करे तो यह भी स्वीकार न करे सिवाय इसके कि इस प्रकार का आदान-प्रदान उन दोनों के बीच क़र्ज़ के बिना भी आम तौर पर होता रहा हो।'' (हदीस : बैहक़ी)
हज़रत अनस-बिन-मालिक (रज़ि०) ही से रिवायत है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने फ़रमाया कि ''यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति को क़र्ज़ दे तो उससे कोई तोहफ़ा स्वीकार न करे।'' (हदीस : बुख़ारी)

में लिखा है कि "तमाम मुसलमान अपने रसूल (सल्ल॰) की इस बात पर सहमत हैं कि उधार दी जानेवाली रक़म में किसी भी वृद्धि की शर्त को रिबा समझा जाएगा चाहे वह मुट्ठीभर चारा ही क्यों न हो, जैसा कि इब्ने-मसऊद (रज़ि॰) ने फ़रमाया है या अनाज का एक दाना।"[5] इसी प्रकार इब्ने-मंज़ूर (मृत्यु 711 हि॰/1311ई॰) द्वारा संकलित अरबी भाषा के प्रामाणिक शब्दकोश 'लिसानुल-अरब' में स्पष्ट रूप से लिखा है कि जिस चीज़ को हराम क़रार दिया गया है, वह हर ऐसा क़र्ज़ है, जिसपर मूल से ज़्यादा राशि अथवा कोई लाभ वुसूल किया जाए।[6]

रिबा के इसी अर्थ के आधार पर इस्लामी इतिहास के आरम्भिक काल से रिबा को उस अतिरिक्त राशि से परिभाषित किया गया है, जो क़र्ज़दार को मूलधन के अलावा एक समझौते के तहत अदा करनी पड़ती है, अथवा क़र्ज़ की अवधि में विस्तार करवाने के लिए देनी पड़ती है।[7] इसी आधार पर फ़ुक़हा (इस्लामी विधान के विद्वान) की बहुत-सी अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेंसों में जो रिबा के विषय पर आयोजित हुई, आम सहमति से स्वीकार किया गया कि वर्तमान समय में बैंकों का 'ब्याज' भी रिबा ही की परिभाषा में आता है। इन कांफ्रेंसों में वे कांफ्रेंसें भी शामिल हैं जो 1951 ई॰ में पेरिस में और 1965

---

5. "तफ़सीर की किताब 'तफ़्सीरे-क़ुरतुबी' के अनुसार मुसलमानों का उनके नबी (सल्ल॰) की रिवायतों की बुनियाद पर मतैक्य है कि क़र्ज़ के लिए यह शर्त कि इससे ज़्यादा रक़म अदा की जाएगी रिबा है चाहे वह वृद्धि मुट्ठी भर चारा ही क्यों न हो, जैसा कि इब्ने-मसऊद (रज़ि॰) ने फ़रमाया है, या अनाज का एक दाना।" इब्ने-मंज़ूर कि लिसानुल-अरब के अनुसार, "हर वह क़र्ज़ हराम है जिसमें क़र्ज़ की रक़म से ज़्यादा रक़म या कोई सेवा प्राप्त की जाए।"

(तफ़सीरुल क़ुरतुबी, तृतीय संस्करण 1967, दारुल-किताबिल-अरबी, क़ाहिरा, जिल्द-3 पृष्ठ-241)

6. देखिए : शब्द 'रिबा' इब्ने-मंज़ूर की लिसानुल-अरब में। इसके अलावा सूरा अल-बक़रा की आयत नम्बर 275 की तफ़्सीर के लिए फ़ख़रुद्दीन राज़ी की तफ़्सीर अल-कबीर और अबू-बक्र अल-जस्सास की अहकामुल-क़ुरआन और इब्ने-अरबी की अहकामुल-क़ुरआन को भी।
7. देखिए : अल-जज़ीरी, खण्ड-2, पृष्ठ 245।

ई॰ में क़ाहिरा में आयोजित हुई। यही हाल उन कांफ्रेंसों का है जो 1985 ई॰ में इस्लामी कांफ्रेंस संगठन (Organization of Islamic Conference— OIC) के तहत क़ाहिरा में और राब्ताए-आलमे-इस्लामी के तहत मक्का में आयोजित हुई।[8] इतने बड़े पैमाने पर इज्मा-ए-उम्मत (मुसलमानों की आम सहमति) के बाद कुछ व्यक्तिगत रायों की, जो उस आम सहमति के विपरीत हों, इस्लामी आधार पर कोई हैसियत नहीं। ऐसी राएँ ब्याज के हराम होने को ग़लत नहीं ठहरा सकतीं।

अब यह सवाल पैदा होता है कि वह क्या चीज़ है जिसकी वजह से कुछ लोगों के दिमाग़ में ब्याज के हराम होने को लेकर उलझाव और भ्रम पैदा होता है। इसकी वजह सम्भवतः यह है कि रिबा शब्द पारिभाषिक रूप से शरीअत में दो विभिन्न अर्थों में इस्तेमाल होता है। दोनों के अर्थों, तात्पर्यों एवं निहितार्थों को अच्छी तरह न समझने की वजह से उलझाव पैदा हो सकता है। रिबा शब्द के इन दो पारिभाषिक रूपों में से एक है 'रिबा-अन्-नसीआ' और दूसरा है 'रिबा-अलफ़ज़्ल'।

रिबा-अन्-नसीआ

नसीआ शब्द अरबी के शब्द 'नसा' है। जिसका अर्थ है मुलतवी करना, विलम्ब करना या इंतिज़ार करना और इससे तात्पर्य वह मोहलत है जो क़र्ज़ देनेवाला क़र्ज़दार को ब्याज के बदले क़र्ज़ अदा करने के लिए देता है। अर्थात् यदि एक साल के बाद क़र्ज़ अदा करेगा तो मूलधन के अलावा उसे इतनी रक़म देनी होगी और यदि उसके बाद मोहलत में विस्तार की ज़रूरत हो तो कितनी रक़म और देनी होगी। इस प्रकार रिबा-अन्-नसीआ उस ब्याज के समान है जो आजकल क़र्ज़ पर लिया जाता है। क़ुरआन की सूरा-2 की आयत नम्बर 275 में कहा गया—''अल्लाह ने बैअ (क्रय-विक्रय अर्थात्

8. देखिए : अल-सनहवरी, 1953, खण्ड-3, पृष्ठ 241-246 और अल-क़रज़ावी 1994, पृष्ठ 129-142। इसके अतिरिक्त देखिए अब्दुल-हमीद अल-ग़ज़ाली की किताब उन सब फ़तवों के लिए जो 1900 ई॰ से 1989 ई॰ तक ब्याज के हराम होने के सम्बन्ध में दिए गए हैं।

व्यापार) को हलाल और रिबा को हराम ठहराया है।" यहाँ रिबा शब्द का इस्तेमाल इसी अर्थ में किया गया है। इसी लिए इस रिबा को 'रिबा-अल-क़ुरआन' और 'रिबा-अद-दुयून' भी कहा जाता है, अर्थात् वह "रिबा जिसे क़ुरआन में हराम ठहराया गया।" और "वह रिबा जो क़र्ज़ों पर वाजिबुल-अदा (देय) है।"

रिबा-अन्-नसीआ के हराम होने का लाज़िमी मतलब यह है कि शरीअत में इस बात की इजाज़त नहीं कि किसी क़र्ज़ की अदायगी के लिए जो मोहलत दी जाती है उसके बदले के रूप में एक निश्चित दर के हिसाब से मुआवज़ा लिया जाए। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि मुआवज़े की दर कम हो या ज़्यादा (Interest or Usury), पहले से निर्धारित हो अथवा परिवर्तनीय (Variable) दर हो, नगद के रूप में हो या उपहार एवं सेवा के रूप में और क़र्ज़ लेते समय अदा किया जाए या क़र्ज़ लौटाने के समय। ये सभी तरीक़े रिबा की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं। इससे भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि क़र्ज़ निजी ख़र्चों (Consumption) के लिए लिया गया है या व्यापार, उद्योग-धन्धों (Productions) के लिए।

यह तर्क पूर्णतः निराधार है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के ज़माने में ब्याज इसलिए हराम किया गया था कि उस समय ग़रीब लोग ही अपनी जीवन-यापन सम्बन्धित ज़रूरतें पूरी करने के लिए क़र्ज़ लेते थे और इस प्रकार उनका शोषण होता था। हक़ीक़त यह है कि ग़रीब लोगों की जीविका सम्बन्धित ज़रूरतें इस्लाम की कल्याणकारी व्यवस्था में क़र्ज़ लिए बिना ही पूरी हो जाती थीं। अमीर लोग उनकी मदद करते थे और अगर किसी की इस प्रकार मदद न हो सके तो बैतुलमाल (इस्लामी स्टेट का राजकोष) मौजूद था। इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती कि उस आदर्श समाज में अमीर लोग, ग़रीबों की अल्लाह के रास्ते में मदद करने के बजाय उन्हें क़र्ज़ देंगे और वह भी ब्याज पर।

हक़ीक़त तो यह है कि उस ज़माने में व्यापार ही के लिए क़र्ज़ लिए जाते थे। जब क़ाफ़िले दूरदराज़ के इलाक़ों में व्यापार के लिए जाते थे तो उन्हें काफ़ी पूँजी की ज़रूरत होती थी ताकि वे निर्यात योग्य सभी चीज़ें ख़रीद कर

ले जाएँ और उन्हें बेचकर जो पैसा प्राप्त हो उससे अपने समाज की तमाम आवश्यक वस्तुएँ आयात कर सकें। ऐसे व्यापार में काफ़ी समय लगता था और पूँजी एक लम्बी अवधि के लिए शिथिल हो जाती थी। इसके अतिरिक्त ऋतुओं की सख़्ती, रास्ते की कठिनाइयाँ एवं डकैती के डर के कारण जोखिम भी बहुत उठाना पड़ता था। यह बात इस्लाम के न्याय एवं इनसाफ़ की अपेक्षाओं के ख़िलाफ़ थी कि जो व्यापारी इतनी मेहनत करे और अनगिनत जोखिम भी मोल ले, वह तो व्यापार के घाटे का पूरा बोझ उठाए और पूँजीपति जिसने पूँजी उपलब्ध करने के अतिरिक्त कुछ नहीं किया, उसे व्यापार में घाटे के बावजूद लाभ ही लाभ हो। यही वजह है कि इस्लाम ने पूँजीपति (निवेशक) के लिए ज़रूरी ठहराया कि वह ब्याज लेने के बदले व्यापार में साझेदार बनकर लाभ-हानि दोनों में शरीक हो। यदि वह हानि में शरीक नहीं होना चाहता तो फिर लाभ में भी शरीक नहीं हो सकता।

अतः बीसवीं सदी के एक प्रमुख आलिम (इस्लामी विद्वान) शैख़ अबू-ज़ुहरा ने लिखा है कि इस बात का हमें इतिहास से कोई प्रमाण नहीं मिलता कि रिबा अल-जाहिलीया (इस्लाम से पहले का रिबा या ब्याज) निजी ख़र्चों के लिए लिए गए क़र्ज़ों पर था और व्यापारिक एवं पैदावारी क़र्ज़ों के लिए नहीं था। हक़ीक़त में जिन क़र्ज़ों का प्रमाण एक शोधकर्ता को इतिहास के पन्नों में मिलता है वह पैदावारी क़र्ज़ों ही का है। उस ज़माने में अरबों के हालात, मक्का का स्थान और मक्का के क़ुरैश का व्यापार, ये सभी इस बात की गवाही देते हैं कि क़र्ज़ पैदावारी उद्देश्यों से ही लिए जाते थे।[9] प्रोफ़ेसर अब्राहम यूडोविच (Prof. Abraham Udovitch) जो प्रिंस्टन यूनिवर्सिटी के मध्यपूर्व अध्ययन विभाग (Department of Middle Eastern Studies) के चेयरमैन थे, उन्होंने भी इस बात को स्पष्ट किया है कि "मध्यपूर्व के सम्बन्ध में ऐसा कोई तर्क स्वीकार योग्य नहीं जो यह साबित करने की कोशिश करे कि उस ज़माने में क़र्ज़ केवल निजी ख़र्चों को पूरा करने लिए लिए जाते थे और पैदावार के लिए नहीं।[10]

9. अबू-ज़ुहरा, 1970, पृष्ठ 53-54।
10. यूडोविच (U-dovitch), 1970, पृष्ठ 86।

इसी वजह से मुसलमानों की सभी विचारधाराओं के उलमा (विद्वानों) में इस बात पर कोई मतभेद नहीं कि रिबा अन्-नसीआ ब्याज ही के समान है और हराम (निषेध) है, और यह कि यह निषेध सख़्त, सुनिश्चित एवं भ्रमरहित है।[11] शरीअत के अनुसार यह ज़रूरी है कि पूँजीपति लाभ-हानि दोनों में शरीक हो और यह कि उस लाभ या हानि का वितरण शरीअत के न्यायसंगत उसूलों के आधार पर हो।

रिबा-अल-फ़ज़्ल

यहाँ यह सवाल पैदा होता है कि यदि क़र्ज़ों पर ब्याज 'रिबा-अन्-नसीआ' है तो फिर 'रिबा-अलफ़ज़्ल' क्या है? इसका जवाब यह है कि जहाँ इस्लाम ने ब्याज को हराम और व्यापार को जाइज़ क़रार दिया है वहाँ उसने व्यापार में हर चीज़ की इजाज़त और मनमानी करने की छूट नहीं दी है। इसकी वजह यह है कि इस्लाम केवल उस अन्याय और ज़ुल्म को ख़त्म नहीं करना चाहता जो ब्याजी व्यवस्था में होता है बल्कि वह व्यापार से भी लाभ कमाने के सभी अवैध और अन्यायपूर्ण तरीक़े ख़त्म करना चाहता है। कारोबारी सौदों में जो 'अतिरिक्त' रक़म व्यापारी या ख़रीदार धोखे और बेईमानी के ज़रीए से दूसरे पक्ष से प्राप्त करता है उसे 'रिबा-अलफ़ज़्ल' कहते हैं। अरबी भाषा में चूँकि रिबा का शाब्दिक अर्थ 'ज़्यादा', होता है, अतः रिबावाली आयत (सूरा बक़रा-275) में रिबा से तात्पर्य "हर वह ज़्यादती (बढ़ोत्तरी) है जिसके मुक़ाबले में कोई एवज़ नहीं।"[12]

रिबा-अल-फ़ज़्ल के हराम होने का उद्देश्य व्यापार में न्याय एवं इनसाफ़ को हर प्रकार से सुनिश्चित करना है। इस्लाम हर प्रकार के शोषण को ख़त्म करने का इच्छुक है और रिबा (ब्याज) के भी तमाम चोर दरवाज़ों को बन्द करना चाहता है। यह इसलिए कि इस्लामी शरीअत के आधारभूत उसूलों के अनुसार हर वह चीज़ हराम है, जो हराम तक पहुँचने का ज़रीआ बने। चूँकि

11. अल-जज़ीरी, खण्ड 2, पृष्ठ 245।
12. "रिबा का शब्दिक अर्थ ज्यादती (वृद्धि) है और इससे तात्पर्य वह वृद्धि है जिसके मुक़ाबले में कोई एवज़ नहीं।"

(इब्नुल-अरबी, अहकामुल-क़ुरआन, 1967, पृष्ठ 242)

कई विभिन्न तरीक़ों से लोगों का शोषण हो सकता है और उन्हें धोखा दिया जा सकता है, इसलिए अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने सचेत किया है कि एक मुसलमान सत्तर (अर्थात् बहुत-सारे) तरीक़ों से रिबा जैसे घृणित कर्म में लिप्त हो सकता है।[13] और इसी वजह से नबी (सल्ल॰) ने कहा है कि "जिस चीज़ के जाइज़ और वैध होने के बारे में तुम्हें सन्देह हो उसे छोड़ दो और वह काम करो जो सन्देह से परे हो।"[14]

हज़रत उमर (रज़ि॰) ने भी इसी वजह से फ़रमाया कि "सबसे आख़िर में रिबावाली आयत (2:275-281) नाज़िल हुई परन्तु इससे पहले कि नबी (सल्ल॰) रिबा की पूरी व्याख्या फ़रमाते आप इस दुनिया से चले गए। अतः तुम केवल रिबा से ही नहीं बल्कि 'रैबा' से भी बचो।"[15] रैबा अरबी के रैब शब्द से बना है जिसका अर्थ है शक, सन्देह। और इससे तात्पर्य वह आमदनी है जो रिबा की तरह हो और जिससे ज़ेहन में उसके जाइज़ होने के बारे में सन्देह पैदा हो। इससे स्पष्ट होता है कि रिबा-अन्-नसीआ का अर्थ तो लोगों को स्पष्ट रूप से मालूम था और उसके बारे में कोई शक, सन्देह नहीं था, अलबत्ता रिबा-अल-फ़ज़्ल का भावार्थ एवं तात्पर्य पूरी तरह स्पष्ट नहीं हो सका था। इसलिए अल्लाह के नबी (सल्ल॰) ने व्यापक सन्दर्भ में फ़रमाया है कि जिस चीज़ के औचित्य के सम्बन्ध में तुम्हें सन्देह हो उसे छोड़ दो और इसी लिए हज़रत उमर (रज़ि॰) ने ख़ास रिबा के सन्दर्भ में फ़रमाया कि रिबा से ही नहीं रैबा से भी बचो। साथ ही हर उस चीज़ से बचो, जिसके ज़रीए ज़ुल्म और नाइनसाफ़ी के क़रीब होने की भी तुम्हें आशंका हो।

---

13. "रिबा के 70 हिस्से हैं और उनमें से सबसे कम संगीन एक व्यक्ति का अपनी माँ के साथ व्यभिचार करना है।" (हदीस : इब्ने-माजा, बैहक़ी)
14. "जिस चीज़ के बारे में भी तुम्हें शक हो उसपर उस चीज़ को प्रधानता दो जिसके सम्बन्ध में तुम्हें कोई शक नहीं।" तफ़सीर इब्ने-कसीर में देखिए सूरा-2, अल-बक़रा, आयत नम्बर 275 की तफ़सीर।
15. "सबसे आख़िर में रिबा वाली आयत अवतरित हुई और उसकी मुकम्मल व्याख्या करने से पहले नबी (सल्ल॰) का इन्तिक़ाल हो गया। अतः तुम 'रिबा' (ब्याज) भी छोड़ दो और 'रैबा' भी, हर वह चीज़ जिसके हलाल होने के बारे में तुम्हें शक हो।" (इब्ने-माजा, दारमी)

रिबा-अल-फ़ज़्ल की चार मिसालें

पहली मिसाल

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने मिसाल के तौर पर चार विभिन्न तरीक़े स्पष्ट रूप से बता दिए जिनके ज़रीए से इनसान रिबा-अल-फ़ज़्ल में संलिप्त हो सकता है। उनमें से पहला वह शोषण है, जो व्यापार में अवैध साधनों के उपयोग से किया जा सकता है, हालाँकि व्यापार अपने आप में जाइज़ (वैध) है। मिसाल के तौर पर नबी (सल्ल०) ने 'ग़ब्नुल-मुस्तरसिल' को भी रिबा बताया।[16] 'ग़ब्न' का अर्थ 'धोखा' है और 'मुस्तरसिल' उस सीधे सादे व्यक्ति को कहते हैं जिसे बाज़ार के हालात और क़ीमतों की कोई जानकारी नहीं। ऐसे सीधे-सादे व्यक्ति से बाज़ार मूल्य से कम क़ीमत पर उसकी चीज़ ख़रीद लेना अथवा उसे बाज़ार मूल्य से अधिक क़ीमत पर चीज़ बेचना जाइज़ नहीं। इन दोनों स्थितियों में बाज़ार मूल्य के मुक़ाबले में जो अन्तर है वह भी रिबा के दायरे में आता है। इसी प्रकार नबी (सल्ल०) ने 'नाजिश' (जिसपर लानत की गई हो, धिक्कारा गया हो) को भी रिबा खानेवाला क़रार दिया है।[17] नाजिश उस व्यक्ति को कहते हैं जो नीलामी के समय अपना एक एजेन्ट खड़ा कर देता है ताकि वह बोली को बढ़ाता रहे, जिससे ख़रीदार धोखा खाकर वास्तविक मूल्य से ज़्यादा क़ीमत अदा कर देता है और इस प्रकार उसका शोषण होता है। इन हदीसों से हम अनुमान लगा सकते हैं कि जो व्यक्ति भी धोखे से बाज़ार मूल्य से कम क़ीमत अदा करता है या ज़्यादा लेता है तो वह रिबा-अल-फ़ज़्ल में संलिप्त होता है। यह बात ध्यान में रहे कि यहाँ क़र्ज़ लेने और देने की नहीं बल्कि ख़रीदने और बेचने की बात हो रही है अर्थात् रिबा-अल-फ़ज़्ल का सम्बन्ध रिबा-अन्-नसीआ की तरह क़र्ज़ के लेन-देन से नहीं बल्कि ख़रीदने और बेचने से है।

---

16. "मुस्तरसिल को धोखा देना भी रिबा है।"

(कंज़ुल-उम्माल, खण्ड-4, पृष्ठ 42, बैहक़ी)

17. हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अबी औफ़ा (रज़ि०) से रिवायत है कि "नबी (सल्ल०) ने फ़रमाया कि नाजिश जिसपर लानत की गई, रिबा खानेवाला है।"

दूसरी मिसाल

रिबा-अल-फ़ज़्ल में लिप्त होने का दूसरा तरीक़ा यह है कि किसी व्यक्ति की सिफ़ारिश करने का सिफ़ारिश करनेवाला मुआवज़ा वुसूल करे। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने फ़रमाया कि "जिस व्यक्ति ने अपने मुसलमान भाई के लिए सिफ़ारिश की और उससे कोई तोहफ़ा क़बूल किया तो वह रिबा के दरवाज़ों में से एक बड़े दरवाज़े में दाख़िल हो गया।"[18] इसका मतलब यह है कि कोई व्यक्ति नेकी और भलाई का काम अल्लाह की ख़ुशी हासिल करने के लिए नहीं बल्कि दुनिया कमाने को छिपे इरादे से करे। इस प्रकार की सिफ़ारिश से इसकी सम्भावना है कि एक ऐसे व्यक्ति को फ़ायदा पहुँचे जो कम हक़दार है और एक ऐसे व्यक्ति को नुक़सान हो जो ज़्यादा हक़दार है।

तीसरी मिसाल

रिबा-अल-फ़ज़्ल में लिप्त होने का तीसरा तरीक़ा माल (वस्तुओं) के बदले माल के कारोबार करने का है। ऐसे सौदों में बेची गई या ख़रीदी गई वस्तु की क़ीमत का सही अंदाज़ा लगाना बहुत मुश्किल होता है। अतः अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने किसी ऐसी अर्थव्यवस्था में जहाँ मुद्रा का चलन हो वहाँ माल के बदले माल के कारोबार के चलन को हतोत्साहित किया है और इस बात की ताकीद फ़रमाई है कि बेची जानेवाली वस्तु को नक़द रक़म के बदले बेचा जाए और प्राप्त रक़म से ज़रूरत की चीज़ ख़रीदी जाए।[19]

18. हज़रत उमामा (रज़ि०) से रिवायत है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने फ़रमाया कि "अगर कोई व्यक्ति अपने भाई के हक़ में सिफ़ारिश करने के बदले तोहफ़ा क़बूल करता है तो वह रिबा के दरवाज़ों में से एक बहुत बड़े दरवाज़े में दाख़िल हो गया।" (हदीस : मुस्नद अहमद, अबू-दाऊद)

19. हज़रत अबू-सईद (रज़ि०) और हज़रत अबू-हुरैरा (रज़ि०) रिवायत करते हैं कि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने ख़ैबर में एक व्यक्ति को खजूरें लाने के लिए भेजा तो वह जुनैब प्रकार की खजूरें ले आया। इस पर नबी (सल्ल०) ने पूछा कि क्या ख़ैबर में सभी खजूरें ऐसी ही होती हैं? तो उसने जवाब दिया कि नहीं ऐ अल्लाह के रसूल! हम एक साअ (एक पैमाना) के बदले दो साअ और दो साअ खजूरों के बदले तीन साअ लेते हैं। इसपर आप (सल्ल०) ने फ़रमाया कि ऐसा मत करो। सभी खजूरों को दिरहमों के बदले में बेचो और उन दिरहमों से जुनैब खजूरें ख़रीदो। (हदीस : मुस्लिम, नसई)

चौथी मिसाल

रिबा-अल-फ़ज़्ल में लिप्त होने का चौथा तरीक़ा वह है जिसपर फ़ुक़हा ने ज़्यादा ध्यान दिया है और जिसकी वजह से कुछ लोगों के ज़ेहन में यह भ्रामक विचार पैदा होता है कि जैसे यही रिबा-अलफ़ज़्ल है। कई प्रामाणिक हदीसों में ताकीद की गई है कि यदि एक ही प्रकार की वस्तु का तबादला किया जाए, मिसाल के तौर पर सोने का सोने से या चाँदी का चाँदी से, या रुपये का रुपये से तो फिर यह ज़रूरी है कि दो शर्तें पूरी की जाएँ। एक यह कि ये दोनों वस्तु मात्रा या वज़न की दृष्टि से बराबर हों और दूसरी यह कि तबादला हाथों-हाथ हो दूसरे शब्दों में तुरन्त और अविलम्ब हो और "ग़ैर-मौजूद वस्तु को मौजूद के बदले न बेचो।"[20] परन्तु यदि दोनों चीज़ें अपनी जिन्स (प्रकार) की दृष्टि से भिन्न हों (मसलन रुपये का तबादला डॉलर से) तो फ़िर उनके वज़न अथवा मात्रा में भिन्नता होने में कोई हरज नहीं बशर्ते कि उन वस्तुओं का विनिमय हाथों हाथ हो अर्थात् तुरन्त और अविलम्ब हो। इन दोनों शर्तों का मक़सद ब्याज के चोर दरवाज़े को बन्द करना है जिसे फ़ुक़हा ने 'सद्दे-ज़रीआ' (साधन-अवरोध) शब्द से परिभाषित किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई व्यक्ति रुपये के बदले रुपये बेचता है तो सौ रुपये के बदले सौ ही रुपये ले सकता है और लेन-देन तुरन्त होना चाहिए। यदि विलम्ब हो तो भी सौ रुपये के बदले सौ ही रुपये ले सकता है। इन हदीसों का एक और मतलब जो फ़ुक़हा ने समझा है वह यह है कि विदेशी मुद्रा में भावी सौदा (Forward Transactions) करने की मनाही है। जैसे यदि आप रुपये के बदले डॉलर ख़रीदते हैं तो सौदा तुरन्त (Spot) होना चाहिए, भविष्य (Future) में नहीं हो सकता। यानी आप यह नहीं कर सकते कि रुपये अभी दें और इस समय तय की गई क़ीमत से डॉलर भविष्य में

20. इस विषय की कई हदीसें हैं जिन्हें यहाँ पेश करना सम्भव नहीं। इन हदीसों के लिए देखिए लेखक की किताब "Towards a Just Monetary System", 1985, पृष्ठ 238-240। इन हदीसों में जिन वस्तुओं का ज़िक्र आया है वे हैं : सोने के बदले सोना, चाँदी के बदले चाँदी, गेहूँ के बदले गेहूँ, जौ के बदले जौ, खजूर के बदले खजूर और नमक के बदले नमक।

लें। यह इसलिए कि क़ीमत के बदल जाने से दोनों में से किसी एक पार्टी के साथ नाइनसाफ़ी हो सकती है। अलबत्ता यह हो सकता है कि भविष्य में डॉलर लेते समय जो क़ीमत हो उसके हिसाब से डॉलर लें।

यहाँ यह सवाल पैदा होता है कि क्या हेजिंग (Headging) भी मना है, जो विदेशी मुद्रा की क़ीमत में उतार-चढ़ाव की वजह से होने वाले नुक़सान से बचने के लिए की जाती है। इस सवाल की ओर फ़ुक़हा को ध्यान देने की ज़रूरत है। हेजिंग (Headging) की इजाज़त न होने की वजह से आयात-निर्यात करनेवालों को काफ़ी नुक़सान हो सकता है। यानी अगर कोई व्यापारी जापान से कपड़ा आयात करना चाहता है तो कपड़े की क़ीमत येन (Yen) या डॉलर में अभी से तय हो जाएगी लेकिन रुपये में रक़म तीन महीने के बाद कपड़ा प्राप्त करते समय अदा करनी होगी, यदि येन या डॉलर की क़ीमत बढ़ गई तो रुपये ज़्यादा देने होंगे और इस प्रकार व्यापारी को बहुत नुक़सान हो जाएगा। उसके पास इस वक़्त इतनी रक़म नहीं कि वह अभी से येन (Yen) या डॉलर ख़रीद ले। इसलिए वह भविष्य का सौदा करना चाहता है, क्या यह जाइज़ है? फ़ुक़हा का फ़तवा अभी तक नहीं में है। बदलते हुए हालात के तहत ज़रूरी है कि या तो फ़ुक़हा कठिनाइयों को दूर करने के लिए कोई शरई समाधान बताएँ या फिर अपने फ़ैसलों पर शरीअत की रौशनी में पुनर्विचार करें।

रिबा-अन्-नसीआ और रिबा-अल-फ़ज़्ल दोनों क़ुरआन की सूरा-2, अल-बक़रा की उस आयत का दूसरा हिस्सा हैं जिसमें अल्लाह ने फ़रमाया है कि "उसने व्यापार को हलाल क़रार दिया है और रिबा को हराम।" रिबा-अन्-नसीआ का सम्बन्ध क़र्ज़ों और ब्याज से है जिसका हराम होना इस आयत के दूसरे हिस्से में आया है। रिबा-अल-फ़ज़्ल का सम्बन्ध व्यापार से है जो इस आयत के पहले हिस्से में है। व्यापार के हलाल होने का यह अर्थ नहीं है कि इसमें हर चीज़ हलाल है। जैसा अत्याचार व अन्याय ब्याज के द्वारा होता है वैसा ही अन्याय वस्तुओं के क्रय-विक्रय और विभिन्न देशों की मुद्राओं के तबादले से भी हो सकता है। रिबा अल-फ़ज़्ल इसी प्रकार के सभी अन्याय को ख़त्म करने के लिए हराम क़रार दिया गया है। और इसके दायरे

में हर वह शोषण आता है जो वस्तुओं की क़ीमतों, नाप-तौल और गुणवत्ता में बेईमानी और मुद्राओं की क़ीमत में उतार-चढ़ाव या अनिश्चितता के द्वारा किया जाता है। इसके लिए ज़रूरी है कि बेचनेवाले और ख़रीदनेवाले दोनों को उन वस्तुओं की गुणवत्ता, क़ीमत और वस्तु प्राप्त होने (Delivery) का समय एवं तिथि के बारे में सही मालूमात हों जिनका वे तबादला करनेवाले हैं ताकि व्यापारी और ख़रीदार दोनों को शोषण से बचाया जा सके।[21]

जहाँ रिबा-अन्-नसीआ की परिभाषा कुछ शब्दों में की जा सकती है वहाँ रिबा-अल-फ़ज़्ल की व्याख्या आसान नहीं क्योंकि यह विभिन्न प्रकार के बेशुमार व्यापारिक सौदों को अपने में लिए हुए है। सम्भवतः इसी वजह से हज़रत उमर (रज़ि॰) ने फ़रमाया कि "अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) रिबावाली आयत की पूर्ण रूप से व्याख्या किए बिना इस दुनिया से चले गए।"

हज़रत उमर (रज़ि॰) के इस कथन के आधार पर ब्याज को जाइज़ करने की कोशिश करना पूर्णतः निराधार है, क्योंकि उनके कथन का सम्बन्ध रिबा-अन्-नसीआ से था ही नहीं बल्कि रिबा-अलफ़ज़्ल से था। उन्होंने यह नहीं फ़रमाया कि चूँकि रिबा-अल-फ़ज़्ल की पूर्ण व्याख्या नहीं हुई है इसलिए तुम ब्याज भी मज़े से खा सकते हो, बल्कि यह फ़रमाया कि एक मुसलमान को यह चीज़ ज़्यादा शोभा देती है कि वह केवल रिबा से ही न बचे, बल्कि रिबा (सन्देहास्पद) से भी बचे। यानी आमदनी के हर उस ज़रीए से बचे जिसके सम्बन्ध में उसे यक़ीन नहीं कि वह रिबा से पाक है।

इससे यह सवाल पैदा होता है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने रिबा-अल-फ़ज़्ल में लिप्त होने के तमाम तरीक़े क्यों नहीं बता दिए। इसकी वजह यह है कि यह ज़रूरी नहीं था और न ही सम्भव। व्यापार एवं मुद्रा के तबादले में ज़ुल्म और शोषण के तरीक़े समय के बदलाव के साथ इतने

---

21. शरीअत ने कई प्रकार के सौदों से मना किया है ताकि व्यापारी एवं ख़रीदार दोनों में से किसी का हक़ मारा न जाए। मिसाल के तौर पर उनमें से कुछ सौदे ये हैं : नजश, ग़बनुल-मुस्तरसिल, बैउल हाज़िर लिलबादी, तलक़्क़िररुकबान, ग़रर, मुहाक़ला, मुनाबज़ा, मुलामसा, और मुज़ाबना।

देखिए : अल-जज़ीरी, खण्ड-2, पृष्ठ 273-278 और 283-291

बदलते रहे हैं कि उनका चौदह सौ साल पहले पूरी तरह अपने दायरे में ले लेना मुमकिन नहीं था। क़ुरआन और सुन्नत ने वे तमाम उसूल बता दिए हैं जिनके ज़रीए से मुस्लिम उम्मत हर ज़माने में अपने हालात के अनुसार अपने लिए एक विस्तृत कार्यशैली तय कर सकती है। यह तमाम मुसलमानों के लिए एक स्थायी चैलेंज है कि वे क़ुरआन और सुन्नत की रौशनी में व्यापार करने एवं धन कमाने के विभिन्न तरीक़ों की समीक्षा करते रहें ताकि वे ज़ुल्म-नाइनसाफ़ी और शोषण के तमाम रास्ते और चोर दरवाज़े बन्द कर सकें। इस प्रकार रिबा अल फ़ज़्ल का खात्मा करना रिबा-अन्-नसीआ के ख़त्म करने से ज़्यादा कठिन है। इसके लिए मज़बूत इरादे के साथ सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का पुनर्गठन एवं पूर्ण सुधार की ज़रूरत है ताकि ज़ुल्म और शोषण का मुकम्मल ख़ात्मा किया जा सके और न्याय एवं इनसाफ़ की स्थापना को सुनिश्चित किया जा सके, जो क़ुरआन के अनुसार पैग़म्बरों एवं नबियों के आने का एक महान उद्देश्य है। (क़ुरआन, 57:25)

सारांश

ब्याज खाना अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल०) के साथ युद्ध करने के समान है। इस कठोरता के साथ ब्याज के ख़िलाफ़ एलाने-जंग की वजह यह है कि इस्लाम एक ऐसी अर्थव्यवस्था चाहता है जिसमें हर प्रकार के ज़ुल्म एवं शोषण का अन्त हो, विशेषकर ऐसी नाइनसाफ़ी का जिसके द्वारा पूँजी लगानेवाले को कोई काम किए बिना या नुक़सान में हिस्सा लिए बिना पहले से तय की हुई एक सकारात्मक क़ीमत के अनुपात में लाभ की गारन्टी दी गई हो, जबकि इसके विपरीत व्यापारी/व्यवसायी को उसकी प्रबन्धकीय सेवा और कठिन परिश्रम के बावजूद किसी सकारात्मक फ़ायदे की गारन्टी नहीं दी गई। उसे जहाँ लाभ हो सकता है वहाँ हानि भी हो सकती है। इस्लाम यह चाहता है कि पूँजीपति और व्यापारी के बीच इनसाफ़ के साथ मामला हो। रहा सवाल व्यापारी का पूँजीपति को धोखा देने का तो उसे रोकने के लिए हर ज़माने में विभिन्न उपाय किए गए हैं और अब भी किए जा सकते हैं। यह तर्क पूर्णतः निराधार है कि जब समाज पूर्ण रूप से ठीक हो जाएगा तब हम इस्लामी-व्यवस्था की ओर क़दम बढ़ाएँगे। दुनिया में हमेशा जहाँ

ईमानदार लोग रहे हैं वहाँ धोखेबाज़ लोग भी रहे हैं और जनता एवं सरकारों ने मिलकर बेईमानी को ख़त्म करने के लिए विभिन्न तरीक़े अपनाए हैं।

इस्लाम में न्याय एवं इन्साफ़ और भाईचारे पर जो बल दिया गया है, उसे अगर सामने रखा जाए तो यह बात समझ में आ सकती है कि इस्लामी समाज में ब्याज हराम क्यों है। ब्याज सिर्फ़ उसी सूरत में जाइज़ हो सकता है जब हम इस्लाम के उद्‌देश्यों और उसकी शिक्षाओं, विशेषकर उसमें न्याय एवं इन्साफ़ पर बल और आमदनी एवं धन के न्यायसंगत वितरण के उद्‌देश्य को नज़रअन्दाज़ कर दें। यदि हम ब्याज के हराम होने को एक ऐसी आंशिक शिक्षा समझें जिसका इस्लाम के समग्र उद्‌देश्यों एवं शिक्षाओं से कोई सम्बन्ध नहीं तब ही हम उसके हराम होने के निहितार्थ को समझने में असमर्थ रह सकते हैं।

अध्याय : 2

ब्याज हराम क्यों?

पिछले आलेख में स्पष्ट किया गया था कि क़ुरआन ने ब्याज खाने को अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल०) के ख़िलाफ़ जंग के बराबर क़रार दिया है और अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने इसे छत्तीस बार व्यभिचार करने या अपनी माँ के साथ ऐसा ही कुकर्म करने से भी ज़्यादा बुरा क़रार दिया है। और क़र्ज़ के बदले में छोटे से छोटा मुआवज़ा या तोहफ़ा लेने से भी मना फ़रमाया है। सवाल यह पैदा होता है कि आख़िर इस्लाम ने ब्याज के हराम होने के सम्बन्ध में इतना सख़्त रवैया क्यों अपनाया है जबकि इतनी सख़्ती किसी और जुर्म के बारे में नहीं अपनाई गई है। इस आलेख में इसी सवाल का जवाब देने की कोशिश की गई है।

ब्याज का हराम होना अन्य धर्मों में

यहाँ यह बात भी सामने रखने की ज़रूरत है कि इस्लाम ही एक ऐसा धर्म नहीं है जिसमें ब्याज का निषेध इतनी ज़्यादा सख़्ती से किया गया हो। हिन्दू मत, यहूदी और ईसाई धर्मों में भी ब्याज की सख़्ती से निन्दा की गई है।[1] तलमूद ने, जो यहूदियों का पवित्र ग्रंथ है, ब्याज लेनेवाले को अपराध की दृष्टि से हत्यारे के बराबर क़रार दिया है और मिशना ने, जो उनकी फ़िक़्ह (नियम संग्रह) की किताब है, ब्याज लेनेवाले को अदालत में गवाही देने के लिए अयोग्य घोषित किया है।[2] ईसाइयों के पवित्र धर्म ग्रंथ बाइबल

---

1. यहूदी और ईसाई धर्मों में ब्याज के हराम होने के सम्बन्ध में देखें : Hastings की Encyclopaedia of Religion and Ethics में et al., का 'Usury' पर लेख, खण्ड 12, पृष्ठ 548-558। इसके अतिरिक्त देखिए : Noonan 1907, पृष्ठ 20, हिन्दू धर्म में ब्याज की निन्दा के लिए देखिए : Bokare, 1993, पृष्ठ 168।
2. देखिए : John et Al., पृष्ठ 558।

ने ब्याज लेने वाले को ज़ालिम क़रार दिया है।[3] और उनकी तृतीय लैटेरन कौंसिल (Third Lateran Council) ने, जो 1179 ई. में आयोजित हुई थी, ब्याज लेनेवाले को ईसाई पद्धति से दफ़न करने पर रोक लगा दी थी।[4] यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि ईसाई धर्म ने अधिकतम ब्याज दर (Usury) और कम ब्याज दर (Interest) के बीच कोई अन्तर नहीं किया था, दोनों समान रूप से हराम थे।[5] इस वजह से यह सवाल और भी अहम हो जाता है कि आख़िर ब्याज के ख़िलाफ़ आदेश देने में सभी धर्मों में इतनी सख़्ती क्यों है? क्या इसका कोई उचित कारण है? और यदि कोई कारण है तो क्या वह कारण वर्तमान समय में भी उतना ही प्रासंगिक है जितना प्रारम्भिक काल में था?

क्या केवल निर्धन लोग ही क़र्ज़ लेते थे?

जो लोग ब्याज के हराम होने के ख़िलाफ़ हैं वे यह तर्क देते हैं कि उन सभी धर्मों में ब्याज खाने की मनाही इसलिए थी कि इससे निर्धन लोगों के साथ ज़ुल्म होता था। वे अपनी आर्थिक तंगी के कारण क़र्ज़ लेने को विवश होते थे और बहुत ऊँची ब्याज दर के कारण उनकी कमर टूट जाती थी। यही नहीं कि उनकी निर्धनता और बढ़ जाती थी बल्कि वे पूँजीपति के दास बनकर जाते थे। किन्तु वर्तमान समय के पूँजीपति यानी बैंक इस प्रकार का शोषण नहीं करते हैं।

इस्लामी इतिहास, जैसा कि हम पिछले आलेख में बता चुके हैं, इस भ्रामक तर्क की किसी प्रकार पुष्टि नहीं करता है। ब्याज के पक्षधर इतिहास की इस वास्तविकता को समझने में असमर्थ हैं कि इस्लाम ने निर्धनों की हालत बेहतर बनाने और उन्हें ब्याज के क़र्ज़े के शिकन्जे से बचाने के लिए

---

3. देखिए : बाइबल की किताब यहेज़केल 18:8, 13, 7 और 22:25-27। लैव्यव्यवस्था 25:36-38। व्यवस्थाविवरण 23:19 और लूका 6:35।
4. देखिए : John, et al., पृष्ठ 551। लैटेरन (Lateran) वह जगह है जहाँ पोप (Pope) चौदहवीं सदी ईसवी तक रहते थे।
5. देखिए : Jhon, et. al, और Noonah, 1957।

कितनी बड़ी क्रान्ति ला दी थी। अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की ज़िन्दगी के आख़िरी दौर में जब ब्याज का हराम होना सख़्ती से लागू हुआ, उस समय इस्लाम की कल्याणकारी व्यवस्था पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी और ग़रीबों को अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए क़र्ज़ लेकर पूँजीपति के शिकंजे में फँसने की कोई ज़रूरत पेश नहीं आती थी। उनकी आवश्यकताएँ धनी वर्ग की ज़कात, सदक़ात (दान) और क़र्ज़े-हसन (ऐसा क़र्ज़ जिसमें कोई ब्याज नहीं, वापसी का कोई कठोर आग्रह नहीं) से पूरी हो जाती थीं। इसके अतिरिक्त बैतुलमाल (इस्लामी राज्य का राजकोश) भी लोगों की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए मौजूद था।

यहाँ शायद आप यह सवाल उठाएँ कि यदि निर्धन लोग क़र्ज़ नहीं लेते थे तो फिर कौन लेता था। क़र्ज़ तो व्यापारी वर्ग लेता था, जो अपने समाज की अतिरिक्त पैदावार के निर्यात और अपने सामज की ज़रूरतें पूरी करने के लिए आयात हेतु दूरदराज़ की यात्राएँ क़ाफ़िलों के रूप में करता था। इन यात्राओं में लम्बा समय लगता था और काफ़ी पूँजी की ज़रूरत पड़ती थी। व्यापारी को लाभ भी हो सकता था और हानि भी।

इस्लाम की न्याय-व्यवस्था में यह चीज़ स्वीकार्य नहीं थी कि पूँजीपति जिसने केवल पूँजी उपलब्ध कराई और इसके अतिरिक्त कोई भाग-दौड़ नहीं की, उसे तो हर हाल में तय दर से ब्याज मिले और व्यापारी को उसकी तमाम भाग-दौड़ के बावजूद सम्पूर्ण हानि सहनी पड़े। इस्लाम ने इसलिए ब्याज को ख़त्म किया और पूँजीपति के लिए यह ज़रूरी ठहरा दिया कि वह लाभ-हानि दोनों में शरीक हो।

इससे स्पष्ट होता है कि इस्लाम में ब्याज का हराम होना इसलिए नहीं है कि इससे निर्धनों का शोषण होता था, बावजूद इसके कि इस्लामी व्यवस्था में निर्धनों के साथ न्याय और इनसाफ़ करने और उनकी हालत बेहतर बनाने की बहुत बड़ी अहमियत हासिल है। यही नहीं बल्कि क़ुरआन तो न्याय और इनसाफ़ की यह माँग समझता है कि जिन लोगों का शोषण किया गया है उनकी हालत बेहतर बनाकर उन्हें नेतृत्व के पदों तक पहुँचाया

जाए।[6] निर्धनों की मदद के लिए इस्लाम ने अपनी विशेष कल्याणकारी व्यवस्था बनाई है, जिसको विस्तार से समझने के लिए इस्लाम की आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित किताबों का अध्ययन किया जा सकता है। अतः इस विस्तार में यहाँ जाने की ज़रूरत नहीं है। यहाँ तो केवल इतना कहना काफ़ी है कि इस्लाम तो निर्धनों की सहायता से भी आगे बढ़कर एक ऐसी व्यवस्था देता है, जिसके माध्यम से जीवन के सभी क्षेत्रों में न्याय और इनसाफ़ का बोल-बाला हो ताकि जनकल्याण की बुनियादें मज़बूत हों। इसी तथ्य को क़ुरआन ने नबियों के भेजे जाने का सबसे महान उद्देश्य क़रार दिया है। (क़ुरआन, 57:25)

ब्याज और मानव कल्याण की प्राप्ति

इस्लाम में न्याय की जो व्यापक एवं सारगर्भित अवधारणा है उसकी अपेक्षाएँ केवल निर्धनों के शोषण को समाप्त करने और व्यापारी एवं पूँजीपति के बीच न्याय स्थापित होने से पूरी नहीं होतीं। न्याय की प्राप्ति केवल उसी स्थिति में सम्भव है जब सम्पूर्ण संसाधन, जो अल्लाह ने इनसान को धरती पर अपना प्रतिनिधि होने की हैसियत से अमानत (धरोहर) के रूप में उपलब्ध कराए हैं इस प्रकार उपयोग में लाए जाएँ कि सारे इनसानों के उत्थान एवं विकास की सम्पूर्ण अपेक्षाएँ पूरी हों। यह तभी सम्भव है जब हम उन संसाधनों का इस प्रकार उपयोग करें कि उचित गति से आर्थिक विकास हो और कम-से-कम निम्नलिखित चार उद्देश्यों की ज़्यादा से ज़्यादा एक सन्तुलित तरीक़े से प्राप्ति हो।

1. तमाम इनसानों की जीवन-यापन सम्बन्धी ज़रूरतें पूरी हों।
2. तमाम लोगों को उनकी योग्यताओं और क्षमताओं के अनुकूल सम्माननीय धनोपार्जन का साधन प्राप्त हो ताकि अपनी जीवन सम्बन्धित आवश्यकताएँ अपने परिश्रम से पूरी कर सकें।

---

6. "हम चाहते हैं कि उन लोगों पर मेहरबानी करें जिन्हें ज़मीन में कमज़ोर बनाकर रखा गया है और यह भी कि उन्हें क़ियादत (नेतृत्व) के मनासिब (पद) अता करें और उन मनासिब (पदों) के वारिस बनाएँ।" (क़ुरआन, 28:5)

3. आय एवं धन का न्यायसंगत वितरण हो।
4. आर्थिक एवं वित्तीय स्थिरता हो।

ये उद्देश्य उसी स्थिति में प्राप्त हो सकते हैं जबकि सम्पूर्ण जीवन व्यवस्था और विशेषकर आर्थिक व्यवस्था और उसकी रणनीति उन उद्देश्यों के साथ तालमेल रखती हो। ऐसी रणनीति की एक अहम बुनियाद अल्लाह ने ब्याज के हराम होने को क़रार दिया है और इसलिए सभी धर्मों ने सख़्ती से इसकी निन्दा की है। इस आलेख का मूल उद्देश्य संक्षेप में यही बताना है कि ब्याज की बुनियाद पर स्थापित आर्थिक व्यवस्था किस प्रकार इन उद्देश्यों की पूर्ण प्राप्ति में बाधक होती है और ब्याज को हराम ठहराकर जो आर्थिक व्यवस्था पुनर्गठित होती है और क़र्ज़ों पर निर्भरता में कमी से किस प्रकार इन उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रभावी रूप से मदद मिल सकती है।[7]

1. जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति

ब्याजी व्यवस्था में क़र्ज़े प्रायः उन्हीं लोगों को मिलते हैं जो बैंक को कोई स्वीकार्य सम्पत्ति (Collateral) ज़मानत के रूप में उपलब्ध करने के अतिरिक्त वे बैंक को इसका विश्वास भी दिला सकें कि उनके पास नगदी का बहाव (Cash flow) इतना है कि वे मूलधन ब्याज सहित अदा कर सकेंगे। क़र्ज़ की राशि किस उद्देश्य के लिए प्रयोग की जाएगी, इसपर ध्यान तो दिया जाता है परन्तु उतना नहीं जितना दिया जाना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ज़मानत और नगदी का बहाव (Cash flow) दोनों क़र्ज़ की अदाएगी के लिए आवश्यक हैं परन्तु उन दोनों पर एक सीमा से ज़्यादा ध्यान देने के कारण क़र्ज़ की राशि के वास्तविक प्रयोग की ओर ध्यान कम हो जाता है। इस कारण से क़र्ज़ के लिए उपलब्ध संसाधन अधिकतर धनी वर्ग को प्राप्त हो जाते हैं जो ज़मानत भी दे सकते हैं और उनके पास नक़दी का बहाव

7. इस विषय पर विस्तार से जानने के लिए देखें लेखक की किताब Towards a Just Monetary System, पृष्ठ 19-29 और 107-145। लेखक की सन् 1992 में छपी किताब के पृष्ठ 324-327 भी देखें। इसके अलावा देखिए लेखक के दो लेख जो 2000 ई. में छपे और जो इस लेख के आख़िर में पुस्तक सूची में उल्लिखित हैं।

भी अच्छा-ख़ासा होता है। या क़र्ज़ सरकारों को मिलते हैं जिनके बारे में आम तौर पर समझा जाता है कि वे कंगाल नहीं होंगी और क़र्ज़े को ब्याज सहित अदा कर देंगी।

अब सवाल यह पैदा होता है कि धनी लोग या सरकारें किस उद्देश्य से क़र्ज़ लेती हैं। स्पष्ट है कि धनी लोग जो क़र्ज़ लेते हैं वह उनके उपभोग (Consumption) के लिए होता है या फिर निवेश के लिए। जो क़र्ज़ वे उपभोग के लिए लेते हैं वह उनकी जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं होता बल्कि वे विलासितापूर्ण वस्तुओं की ख़रीदारी के लिए होता है। और जो क़र्ज़ वे निवेश (Investment) के लिए लेते हैं वह भी उत्पादक उद्देश्यों के लिए नहीं होता बल्कि सट्टे और इसी प्रकार के अन्य अनुत्पादक उद्देश्यों के लिए भी होता है। और सरकारें भी जहाँ विकास-योजनाओं और जनकल्याण के लिए क़र्ज़ लेती हैं वहीं वे अनावश्यक हथियारों की ख़रीद और अनुत्पादक योजनाओं के लिए भी क़र्ज़ लेती हैं। इस प्रकार जो संसाधन सम्पूर्ण समाज के पास उपलब्ध हैं उनपर ज़रूरत से ज़्यादा बोझ बढ़ जाता है। चूँकि संसाधन पहले ही अपर्याप्त हैं इसलिए क़र्ज़ों के कारण धनी लोगों और सरकारों में अपनी क्षमता से ज़्यादा ख़र्च करने (Living beyond means) का जो रुझान पैदा होता है उससे जीवन सम्बन्धी आवश्कताएँ पूरी करने और उत्पादक निवेश के लिए संसाधनों की कमी हो जाती है। इसका प्रभाव किस पर पड़ता है?

धनी लोग तो अपनी ज़रूरतें पूरी कर ही लेते हैं परन्तु निर्धन लोग पिस जाते हैं। यही कारण है कि अमेरिका जैसे धनी देश भी अपनी तीव्र इच्छा और अपार संसाधनों के बावजूद निर्धन जनता की सभी बुनियादी ज़रूरतें पूरी करने में असमर्थ रहे हैं। पाकिस्तान जैसे निर्धन मुस्लिम देश यदि अमेरिका जितनी दौलत पैदा करने के बाद भी आम लोगों की ज़रूरतें पूरी करने में नाकाम हो जाएँ तो फिर वे इस्लाम के जनकल्याण के सपने को कैसे साकार कर सकेंगे?

यह कोई काल्पनिक विचार नहीं, बल्कि हक़ीक़त है कि ब्याजी क़र्ज़ों की आसानी से उपलब्धता होने के कारण पाकिस्तान में विभिन्न सरकारें क़र्ज़ों

पर इतनी निर्भर रहीं कि पूर्व राष्ट्रपति परवेज़ मुशर्रफ़ के अनुसार सरकार के पूरे बजट का लगभग 66 प्रतिशत केवल ब्याज एवं मूलधन की अदायगी (Debt Servicing) पर ख़र्च होने लगा।[8] अतः सुरक्षा (Defence) एवं प्रशासनिक मामलों (Administration) पर ख़र्च के बाद सरकार के पास शिक्षा, सड़क निर्माण, स्वास्थ्य, आर्थिक विकास और अन्य जन कल्याण की योजनाओं के लिए बहुत कम संसाधन बचने लगे। इसलिए हमें और अधिक क़र्ज़ लेने पड़ते हैं। क़र्ज़ का बोझ इतना बढ़ जाने के कारण जहाँ हम ग़रीबी दूर करने, आर्थिक विषमता कम करने और देश के आर्थिक विकास की गति बढ़ाने में असफल रहे हैं वहाँ हम अमीर देशों के शिकंजे में दिन-प्रतिदिन अधिक कसते जाते रहे हैं और हमें ग़ुलामों की तरह उनकी इच्छाओं के आगे झुकना पड़ता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्व राष्ट्रपति मुशर्रफ़ के दौर में क़र्ज़ के बोझ में कुछ कमी हुई। परन्तु इसमें पाकिस्तान की अपनी कोशिश से ज़्यादा बड़ा दख़ल पाकिस्तान का अफ़गानिस्तान के मसले में अमेरिका का साथ देना था, जिसके कारण उसे आर्थिक अनुदान प्राप्त हुआ और क़र्ज़ की अदायगी की अवधि में भी अधिक समय (Rescheduling) मिला। इसके अतिरिक्त दुनिया भर में ब्याज दर में कमी के कारण पाकिस्तान को काफ़ी फ़ायदा हुआ है। परन्तु जब ब्याज दर बढ़ेगी और क़र्ज़ की अदायगी की अवधि को बढ़ाए जाने का प्रभाव समाप्त होगा और पाकिस्तान को क़र्ज़ अदा करना पड़ेगा, तो फिर भविष्य की सरकारों को इसका ख़मियाज़ा भुगतना पड़ेगा; विशेषकर यदि हमने क़र्ज़ पर अपनी निर्भरता इस्लामी शिक्षाओं की रौशनी में बहुत कम न कर दी।

पूर्वी एशिया के देशों की तेज़ गति से विकास के विभिन्न कारणों में से एक कारण यह है कि उनके अमीर लोगों ने अपेक्षाकृत साधारण जीवन-आचरण को अपनाया और उनकी सरकारों ने अपने राष्ट्रीय संसाधनों पर अधिक से अधिक भरोसा किया और क़र्ज़े कम-से-कम लिए। इसी कारण उनपर क़र्ज़ों

---

8. यह आँकड़ा तत्कालीन राष्ट्रपति पाकिस्तान परवेज़ मुशर्रफ़ की उस तक़रीर (भाषण) से लिया गया है जो उन्होंने मुस्लिम शासनाध्यक्षों की कांफ्रेंस में की थी जो कुवालालम्पुर में 15 अक्टूबर, 2003 ई. में आयोजित हुई थी।

का बोझ बहुत कम पड़ा और विकास के लिए जो योजनाएँ ज़रूरी हैं उनपर वे ज़्यादा ख़र्च कर सके। यदि पाकिस्तान में सरकारें इस्लाम की दी हुई शिक्षाओं पर अमल करतीं तो वे मजबूर होतीं कि अपनी कर-व्यवस्था को बेहतर बनाएँ और ग़ैर-ज़रूरी योजनाओं पर ख़र्च कम करें। परन्तु ये दोनों काम नहीं किए गए क्योंकि क़र्ज़ लेकर ख़र्च करना कर-व्यवस्था को ठीक करने की अपेक्षा आसान था। जिन ग़ैर-ज़रूरी योजनाओं पर बड़ी-बड़ी रक़में ख़र्च की गईं अब उन्हें औने-पौने दामों पर निजी क्षेत्रों के हाथों बेचा जा रहा है। इस अमल से थोड़े-बहुत आँसू पूछ सकते हैं यदि इस बात को यक़ीनी बनाया जाएं कि जो रक़म इस प्रकार वुसूल होगी उसे क़र्ज़ के बोझ को कम करने के लिए ही इस्तेमाल किया जाएगा।

2. रोज़गार के अवसर

ब्याज पर आधारित व्यवस्था व्यक्ति और सरकारों में अपनी क्षमता से ज़्यादा ख़र्च करने का जो रुझान पैदा करता है उसकी वजह से दुनिया के सभी देशों की बचतों (Savings) में कमी आई है। पिछली शताब्दी के अन्तिम चौथाई हिस्से में दुनिया के सभी देशों में सकल उत्पाद से घरेलू बचत का अनुपात 1971 ई॰ में 26. 2 प्रतिशत से घटकर 1998 ई॰ में 22.3 प्रतिशत हो गया। औद्योगिक देशों की बचतें 23.6 प्रतिशत से घटकर 21.6 प्रतिशत हो गईं और विकासशील देशों में, जिन्हें इफ़्राते-ज़र (मुद्रास्फीति) और क़र्ज़ों की अदायगी में किसी विशेष बढ़ोत्तरी के बिना विकास की गति तेज़ करने के लिए बचतों को बढ़ाने की सख़्त ज़रूरत है, वहाँ भी इस अवधि में बचतें 34.2 प्रतिशत से कम होकर 26 प्रतिशत रह गईं।[9] बचत में इतनी भारी कमी के विभिन्न कारण हैं जिनमें से एक बहुत बड़ा कारण सरकारी और निजी क्षेत्रों के अनुत्पादक ख़र्चों में अधिक बढ़ोत्तरी है, जिन्हें ब्याज पर आधारित व्यवस्था में प्रोत्साहन मिलता है।

---

9. इन आँकड़ों का स्रोत IMF की Yea Book-2000 ई॰ है जिसमें पृष्ठ 79-177 पर एक परिशिष्ट है जिसका शीर्षक है Consumption as Percent of GDP बचत के आँकड़े इसी से लिए गए हैं।

बचतों में कमी के कारण वास्तविक ब्याज दर (Real Rate of Interest) में वृद्धि और सकल निवेश में कमी आई है। इस चीज़ ने दूसरी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक रुकावटों (Structural Rigidities) के साथ मिलकर रोज़गार के अवसरों को वांछित दर से बढ़ने नहीं दिया है। इस प्रकार दुनिया के सभी देशों में, चाहे वे धनी हों या निर्धन, बेरोज़गारी एक जटिल समस्या बन गई है। बेरोज़गारी की औसत दर यूरोपीय संघ में 1999 ई॰ में 9.2 प्रतिशत थी जो 1971-73 की 2.9 प्रतिशत की अपेक्षा तीन गुना ज़्यादा है।[10] निकट भविष्य में इन देशों में बेरोज़गारी की दर में किसी उल्लेखनीय कमी के होने की कोई सम्भावना नहीं है क्योंकि इन देशों में आर्थिक विकास की वास्तविक दर (Real Rate of Economic Growth) स्थाई रूप से उस दर से कम हो गई है जो बेरोज़गारी कम करने के लिए ज़रूरी समझी जाती है। इसमें सबसे ज़्यादा चिन्ता की बात युवकों में बेरोज़गारी की बढ़ती हुई दर है जिससे उनका स्वाभिमान आहत होता है, भविष्य पर भरोसे की भावना कमज़ोर होती है, समाज में घृणा बढ़ती है और उनकी योग्यता एवं क्षमता तथा उत्पादन कार्य-कुशलता को घुन लगता है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अमेरिका में घरेलू बचत निम्नतर ही नहीं बल्कि नकारात्मक (Negative) होने के बावजूद आर्थिक विकास तेज़ और बेरोज़गारी बहुत कम क्यों है? इसके बहुत-से कारण हैं जिनमें से एक बहुत बड़ा कारण अमेरिका में बाह्य बचतों का बहाव (Inflow) है। इसके कारण निवेश में पर्याप्त वृद्धि हुई है।[11] यदि किसी वजह से यह पूँजी वापस जानी शुरू हो जाए या उसके आन्तरिक बहाव में कमी हो जाए तो फिर आर्थिक विकास और रोज़गार के अवसर को बचाए रखना मुश्किल हो जाएगा। यदि इसकी वजह से डॉलर के विनिमय दर (Exchange Rate) में

---

10. Oecd. Economic Outlook, December 1991, Table 2, P-7, और June 2000, Table 22, P-266.
11. Peach and Steindel, September 2000, P-1.
(यहाँ ध्यान रहे कि यह आलेख 2004 ई॰ के पहले लिखा गया था– आज अमेरिका में भी बेरोज़गारी की दर बहुत अधिक है। –अनुवादक)

भारी कमी हो और दुनिया में डॉलर पर भरोसे को ठेस पहुँचे तो दुनिया की वित्तीय व्यवस्था (Financial System) में भी एक बड़ा संकट पैदा हो सकता है जैसा कि 1971 ई॰ में डॉलर की क़ीमत में कमी (Devaluation) से पहले और बाद में हुआ था।

सट्टे और ग़ैर-ज़रूरी ख़र्च में कमी और बचत में वृद्धि हो तो राष्ट्रीय अर्थतन्त्र को काफ़ी मदद मिल सकती है, परन्तु ऐसा उस स्थिति में सम्भव नहीं जब सरकारी एवं निजी क्षेत्रों में अपने संसाधनों से ज़्यादा अनुत्पादक ख़र्चों को प्रोत्साहन दिया जा रहा हो। ब्याज पर आधारित वित्तीय व्यवस्था अनुत्पादक उद्देश्यों के लिए क़र्ज़ों की आसान उपलब्धता के ज़रीए ऐसी ही जीवन-पद्धति को सम्भव बनाने में सहायक साबित होती है। इसकी अपेक्षा यदि बैंकों को पूँजी-निवेश में होनेवाले लाभ और हानि दोनों में शरीक किया जाए और क़र्ज़ केवल वास्तविक सामान एवं सेवाओं (Real Goods and Services) की पैदावार के लिए दिए जाएँ, जो इस्लामी व्यवस्था यक़ीनी बनाती है, तो उसका प्रभाव सिर्फ़ यही नहीं होगा कि बैंक क़र्ज़ देने में ज़्यादा सावधान हो जाएँगे, बल्कि यह भी कि क़र्ज़ों में वृद्धि आर्थिक विकास के अनुकूल होगी। अनुत्पादक और सट्टे की बुनियाद पर होनेवाले ख़र्चे धीरे-धीरे कम हो जाएँगे और पैदावारी निवेश (Productive Investment) और जीवन सम्बन्धी ज़रूरतों की पूर्ति के लिए ज़्यादा संसाधन उपलब्ध होंगे। इससे विकास की गति तेज़ होगी, रोज़गार के अवसर पैदा होंगे और बेरोज़गारी में कमी आएगी।

3. धन का न्यायसंगत वितरण

ब्याज पर आधारित पारम्परिक वित्तीय व्यवस्था में आर्थिक संसाधनों के अन्यायपूर्ण वितरण को अब बड़े पैमाने पर स्वीकार किया जाता है। आर्नी बिग्सटन (Arne Bigsten) के अनुसार, "पूँजी का वितरण ज़मीन के वितरण से भी ज़्यादा असमान है और बैंकिंग व्यवस्था पूँजी के असमान वितरण को और भी मज़बूत करती है।"[12] इसकी बड़ी वजह वही है जो पहले बताई जा

12. Bigsten, 1987, P-156.

चुकी है यानी यह कि ब्याज पर आधारित वित्तीय व्यवस्था अदायगी की ज़मानत (Collateral) पर ज़्यादा निर्भर रहती है और उसकी नज़र योजना के लाभकारी होने पर या क़र्ज़ लिए जानेवाले धन के उपयोग पर उतनी नहीं होती जितनी होनी चाहिए। अतः इसके बावजूद कि बैंकों में रखी जानेवाली बचतें समाज के अनगिनत व्यक्तियों से प्राप्त होती हैं, उनका लाभ समाज के केवल धनी वर्ग को पहुँचता है। जैसा कि मिशान (Mishan) ने ठीक ही कहा है, "चूँकि धन के वितरण में बहुत ज़्यादा विषमता है, इसलिए क़र्ज़ देनेवाले के लिए यह उचित न होगा कि वह समाज के धनी वर्ग के बजाए निर्धन वर्ग को भी क़र्ज़ देने के लिए तैयार हो या दोनों को एक जैसी शर्तों पर क़र्ज़ दे।"[13] अमेरिका के बड़े बैंकों में से एक बैंक मार्गन गारंटी ट्रस्ट कम्पनी (Morgan Guarantee Trust Company) ने इस बात को माना है कि बैंकिंग व्यवस्था "छोटी मज़बूत कम्पनियों या निवेशकों (Venture Capitalists) को पूँजी उपलब्ध कराने में असमर्थ रही है" और "इसके बावजूद कि उन बैंकों के पास पर्याप्त पूँजी होती है वह ज़्यादा धनी और पर्याप्त नगदी रखनेवाली कम्पनियों के अलावा किसी को स्वीकार्य ब्याज दर पर पूँजी उपलब्ध कराने को तैयार नहीं।"[14]

इसकी अपेक्षा लाभ-हानि में साझेदारी न्याय की प्राप्ति के लिए ज़्यादा अनुकूल वातावरण बनाती है। इसके तहत पूँजी उपलब्ध करानेवाला इस बात के लिए मजबूर होता है कि योजना की उपयोगिता को ज़्यादा महत्व दे। इस प्रकार निर्धन और मध्यम वर्ग के सक्षम व्यापारियों के लिए भी इसकी सम्भावना होगी कि यदि उनके पास एक प्रबन्ध सम्बन्धी लाभकारी योजना है, उनमें वांछित योग्यता है, और वे ईमानदारी एवं सच्चाई के स्तर पर समाज में अच्छी निगाह से देखे जाते हैं तो अपनी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए वे आवश्यक पूँजी प्राप्त कर सकें। इससे समाज निर्धन और मध्य वर्ग के व्यापारियों की योग्यताओं से भी भरपूर फ़ायदा उठा सकेगा। इस प्रकार ऐसे व्यापारी रोज़गार के अवसर बढ़ाने और समाज की ज़रूरतें पूरी

13. Mishan, 1971, P-205.

14. Morgan Guarantee Trust Company of New York, 1987, P-7.

करने में अहम भूमिका निभा सकेंगे। ब्याज रहित पूँजी-निवेश में क़र्ज़ों की अदायगी न होने से होनेवाली हानि के सम्बन्ध में अधिक चिन्ता नहीं होनी चाहिए क्योंकि पूरी दुनिया में इस सम्बन्ध में जो प्रयोग हुए हैं वे काफ़ी संतोषजनक हैं। निर्धन और मध्य वर्ग के लोग पाकिस्तान के उन रईस क़र्ज़दारों की तरह बेउसूल और अवसरवादी नहीं होते जो क़र्ज़ लेकर उसे अदा करने की नीयत नहीं रखते और रिश्वत देकर या राजनीतिक प्रभाव के ज़रीए क़र्ज़ माफ़ करवा लेते हैं। विश्व कृषि विकास फ़ंड International Fund for Agricultural Development (IFAD) के अध्ययन से पता चलता है कि निर्धन वर्ग के योग्य लोगों को जो क़र्ज़ दिए गए वे उन्होंने अपनी आमदनी बढ़ने के कारण शीघ्र ही अदा कर दिए।[15] कई देशों में छोटे क़र्ज़ों के प्रोग्राम (Micro Credit Programmes) के ऐसे ही सकारात्मक नतीजे आए हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि छोटे क़र्ज़ों की वापसी के लिए कारगर उपयोगी तरीक़े न अपनाए जाएँ। इसके लिए बहुत-से तरीक़े दुनिया में अपनाए गए हैं जिनमें से एक क़र्ज़ों का बीमा (Insurance) भी है।

अफ़सोस इस बात का है कि पाकिस्तान में बैंकिंग की व्यवस्था, दौलत को चंद हाथों में जमा करने की बहुत बड़ी वजह बन गई है। आँकड़े बताते हैं कि 1994 ई॰ में जहाँ एक लाख से कम डिपाज़िटवाले खातों ने बैंकों के कुल खातों का 42.9 प्रतिशत उपलब्ध कराया था वहाँ एक लाख से कम क़र्ज़ा लेनेवालों को कुल क़र्ज़ों का केवल 4.3 प्रतिशत प्राप्त हुआ।[16] और जहाँ एक करोड़ से ज़्यादा रक़म के खातादारों ने बैंकों के कुल खातों का केवल 14.7 प्रतिशत उपलब्ध कराया वहाँ उन्हें बैंकों के कुल क़र्ज़ों का 55.6 प्रतिशत मिला। इससे भी ज़्यादा अफ़सोसनाक बात यह है कि सभी बैंकों को 28.4 मिलियन खातादारों ने जो रक़म उपलब्ध कराई उसका 55.6 प्रतिशत केवल 4703 क़र्ज़ लेनेवालों को मिल गया। स्पष्ट है कि इस प्रकार की बैंकिंग व्यवस्था पूँजी के केन्द्रीभूत होने का कारण तो बन सकती है परन्तु इस्लाम

15. The Economist, 16 February 1985, P-15.

16. विस्तार के लिए देखिए लेखक की किताब Towards a Just Monetary System, 1985, Page 200-02.

के न्यायसंगत पूँजी वितरण का सपना साकार नहीं कर सकती।[17] 1992 ई॰ में जो क़ानूनी बदलाव पाकिस्तान में किए गए उनसे भी कुछ ज़्यादा बेहतर होने की आशा नहीं की जा सकती।

4. आर्थिक स्थिरता

बहुत-से प्रचलित कारणों के आधार पर मानव इतिहास में आर्थिक गतिविधियों में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। उनमें से एक कारण प्राकृतिक आपदाएँ (Natural Disasters or Natural Phenomena) हैं, जैसे सूखा, बाढ़ और भूकम्प जिनपर क़ाबू पाना इनसान के लिए अब तक मुश्किल रहा है। एक और बहुत महत्वपूर्ण कारण पिछले तीन दशकों में विश्व की वित्तीय मंडियों (Financial Markets) में असाधारण संकट है, जिसके नतीजे में आर्थिक अनिश्चितता में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। इसके भी कई कारण हैं। परन्तु नोबल पुरस्कार प्राप्त अर्थशास्त्री मिल्टन फ्रीडमैन (Milton Friedman) के अनुसार इसका बहुत बड़ा कारण ब्याज की दरों में असाधारण उतार-चढ़ाव (Volatility) है।[18] इस उतार-चढ़ाव के कारण पूँजी-निवेश की मंडियों में ज़बरदस्त अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न हो गई है, जिसके कारण व्यापारी वर्ग के लिए विश्वास के साथ लम्बी अवधि का पूँजीनिवेश करना कठिन हो गया है और क़र्ज़ देने और लेनेवाले दोनों अपने आपको अधिक नुक़सान से बचाने के लिए अल्प अवधि के क़र्ज़ों पर बहुत से अधिक निर्भर रहने लगे हैं। अतः निजी पूँजी के आधार पर पूँजी-निवेश (Equity) की अपेक्षा अल्पावधि ऋणों की बुनियाद पर पूँजी-निवेश का अनुपात अर्थात् लेविरेज (Leverage) काफ़ी बढ़ गया है।[19] परन्तु इस सच्चाई से बचना सम्भव नहीं कि लेविरेज जितना ज़्यादा होता है उतना ही ज़्यादा सम्पत्तियों

---

17. विस्तार एवं स्रोत के लिए देखिए लेखक की किताब, The Future of Economics: An Islamic Perspective 2000, P-283-85.
18. Friedman, 1982, P-4.
19. यदि किसी की निजी पूँजी एक रुपया है और दस रुपये निवेश के लिए क़र्ज़ लेता है तो उसका लेविरेज (Leverage) दस होगा और अगर 25 रुपये क़र्ज़ लेता है तो लेविरेज 25 होगा।

के मूल्यों में किसी वजह से कमी हो जाने के कारण क़र्ज़ अदा करना कठिन हो जाता है और वित्तीय संकट अत्यधिक बढ़ जाता है।

यहाँ यह सवाल उठाया जा सकता है कि अल्पावधि के क़र्ज़ों में वृद्धि से वित्तीय बाज़ारों में अस्थिरता क्यों बढ़ जाती है? इसकी वजह यह है कि ऋणदाता के लिए अल्पावधि ऋण वापस लेना आसान होता है परन्तु ऋण लेनेवालों के लिए वापस करना उस स्थिति में कठिन हो जाता है जबकि उन्होंने वह रक़म दरमियानी या लम्बी अवधि की योजनाओं में लगाई हो। ऐसी योजनाओं के पूरा होने में देर लगती है और रक़म काफ़ी समय के लिए बन्ध जाती है जिसके कारण अदायगी कठिन हो जाती है। इसलिए जब अल्पावधि क़र्ज़ों की बहुतायत होती है तो रक़म विदेशी मुद्रा, वस्तुओं, प्रॉपर्टी और शेयर के बाज़ारों में सट्टे के लिए इस्तेमाल की जाती है। इसकी वजह से क़र्ज़ लेनेवाले की रक़म अल्प अवधि के लिए बन्धती है, परन्तु वित्तीय अस्थिरता के बढ़ने की सम्भावना अधिक हो जाती है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि अल्पावधि क़र्ज़ नहीं लेना चाहिए। उचित राशि के ऐसे क़र्ज़ लेने में कोई हरज नहीं है, जिनका उद्देश्य उस राशि से वास्तविक वस्तुओं एवं सेवाओं (Real Goods and Services) का क्रय-विक्रय हो। इस मक़सद के लिए इस्लाम की वित्तीय व्यवस्था में ब्याज रहित तरीक़े मौजूद हैं। परन्तु यदि ऐसे अल्पावधि क़र्ज़ों का अनुपात बहुत बढ़ जाए, जैसा कि आज कल दुनिया के विभिन्न देशों में हुआ है, तो काफ़ी रक़म सट्टे (Speculation) के लिए इस्तेमाल होती है जिससे वित्तीय बाज़ारों में अस्थिरता बढ़ जाती है। इस तथ्य को और स्पष्ट करने के लिए एक मिसाल पूर्वी एशिया का वित्तीय संकट है। दूसरी मिसाल अमेरिका की Long Term Capital Management (LTCM) लम्बी अवधि के पूँजी-निवेश करनेवाली कम्पनियों का ढेर होना है। और तीसरी मिसाल विदेशी नक़दी बाज़ार में बार-बार संकट का आना है।

पूर्वी एशिया का वित्तीय संकट

पूर्वी एशिया के कुछ देशों ने बहुत तेज़ गति से आर्थिक विकास किया, जिसके कारण उन्हें पूर्वी चीते (Eastern Tigers) कहा जाता है। परन्तु 1997 ई॰ में ये देश बहुत बड़े संकट का शिकार हो गए। ये देश इस संकट का शिकार क्यों हुए? क्या उनकी सरकारों की वित्तीय नीतियाँ (Financial Policies) पाकिस्तान की तरह रोगग्रस्त थीं? यह वजह बिल्कुल नहीं थी। यही नहीं कि उनके बजटों में आमतौर पर कोई घाटा (Deficit) नहीं था, बल्कि उनका बजट Surplus था। इसके अतिरिक्त उन देशों की सकल घरेलू बचत भी उनके राष्ट्रीय उत्पाद का लगभग 35 प्रतिशत थी। ये ख़ूबियाँ विकासशील देशों के लिए आदर्श मानी जाती हैं।

लेकिन फिर सवाल यह है कि सब ख़ूबियों के बावजूद संकट क्यों आया? इसकी एक बहुत बड़ी वजह जो आम सहमति से अधिकतर विशेषज्ञों और शोधकर्ताओं ने बताई है वह यह है कि अल्पावधि के विदेशी क़र्ज़ों का उन देशों में बहाव (Inflow) बाहर से आनेवाली कुल पूँजी का 60 प्रतिशत से भी ज़्यादा था। इसकी वजह से आन्तरिक बैंकों ने निजी क्षेत्र को ख़ूब दिल खोलकर अल्पावधि ऋण दिए। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है कि ऐसे क़र्ज़ों की बहुतायत से सट्टे की प्रवृति को बढ़ावा मिलता है। इन अल्पावधि के कर्ज़ों की वजह से स्टॉक और प्रॉपर्टी में सट्टे के कारोबार में तेज़ी आई और क़ीमतें बहुत ऊपर गईं। बैंकों ने ज़मानत (Collateral) पर भरोसा करने की आम ग़लती की थी और उन क़र्ज़ों के पीछे जो जोखिम (Risk) थे, उनका सही अनुमान लगाने की कोशिश नहीं की थी। जैसे ही हालात ने पलटा खाया, जो किसी वजह से भी हो सकता है, तो विदेशी बैंकों ने अपने अल्पावधि के क़र्ज़े वापस माँगने शुरू कर दिए। स्थानीय बैंकों ने भी जब अपने क़र्ज़ वापस लेने चाहे तो क़र्ज़दारों ने अपनी सम्पत्तियाँ तेज़ी से बेचनी शुरू कर दीं। स्टॉक एवं प्रॉपर्टी मार्केट में दाम बहुत तेज़ी से गिरे और क़र्ज़दारों के लिए क़र्ज़ चुकता करना कठिन हो गया।

बैंकिंग-व्यवस्था में इस वजह से एक ज़बरदस्त संकट पैदा हुआ, और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) को विदेशी बैंकों को संकट से बचाने के लिए

(Bailout) एक बहुत बड़े क़र्ज़ की व्यवस्था करनी पड़ी। इस प्रकार विदेशी बैंक तो बच कर निकल गए, परन्तु स्थानीय बैंकों के जो क़र्ज़े बाक़ी थे, वह (IMF) के क़र्ज़ों की वजह से सरकारों पर आ पड़े। इन सरकारों के ये क़र्ज़े अब कौन अदा करेगा? स्पष्ट है कि यह बोझ अन्ततः करदाताओं के कंधों पर ही पड़ेगा।

यदि इस्लाम की ब्याज-रहित आर्थिक व्यवस्था रहती और बैंक लाभ और हानि दोनों में शरीक रहते तो फिर वे जोखिमों का सही अन्दाज़ा लगाने की कोशिश करते और ज़मानत (Collateral) पर पूरी तरह भरोसा नहीं करते। इस प्रकार वे इतने उत्साह से क़र्ज़ न देते और स्टॉक और प्रॉपर्टी मार्केट में न इतनी तेज़ी आती और न बाद में इतनी क़ीमतें गिरतीं। लाभ-हानि में साझेदारी से बैंकिंग-व्यवस्था में एक ऐसा अनुशासन (Discipline) पैदा होता है जिससे संकटों पर क़ाबू पाया जा सकता है। यह बात अब अन्तर्राष्ट्रीय बुद्धिजीवी वर्ग में आमतौर पर स्वीकार की जाने लगी है।

LTCM का ढेर होना

LTCM (Long Term Capital Management) अमेरिका का एक हेज फ़ंड (Hedge Fund) है जिसका मूल उद्देश्य स्टॉक, प्रॉपर्टी, वस्तुओं और विदेशी मुद्रा विनिमय के बाज़ारों में सट्टे का कारोबार करना है। इस प्रकार के हेज फ़ंड्स की अपनी निजी पूँजी (Equity) कम और क़र्ज़ों पर भरोसा ज़्यादा होता है। इस प्रकार उनका लेविरेज (Leverage) अपेक्षाकृत बहुत ज़्यादा होता है। ऐसे फ़ंड्स ने अपने सट्टे की वजह से अन्तर्राष्ट्रीय स्टॉक, प्रॉपर्टी और विदेशी मुद्रा विनिमय के बाज़ारों में अस्थिरता पैदा कर दी है। दुनिया भर के स्टॉक और विदेशी मुद्रा विनिमय के बाज़ारों में जो संकट आए हैं उनमें इस प्रकार के हेज फ़ंड्स का बहुत बड़ा साथ रहा है। LTCM की अपनी निजी पूँजी संकट से पहले 4 बिलियन डॉलर से थोड़ी ही ज़्यादा थी। लेकिन उसका लेविरेज (Leverage) 25 था। यानी उसने अपनी निजी पूँजी के एक डॉलर के मुक़ाबले में 25 डॉलर का क़र्ज़ लिया हुआ था। जब विभिन्न कारणों से उसकी सम्पत्तियों की क़ीमतें कम होने लगीं तो उसने और अधिक क़र्ज़ लिया, जिससे लेविरेज 50 हो गया। उसकी सम्पत्तियों में कमी और क़र्ज़

लेने का सिलसिला जारी रहा, यहाँ तक कि उसका लेविरेज 167 तक पहुँच गया।[20] यदि अमेरिका का फ़ेडरल रिज़र्व बैंक (Federal Reserve Bank) उसकी मदद के लिए आगे न बढ़ता तो यह संकट पूरी दुनिया की बैंकिंग-व्यवस्था को अपनी चपेट में ले लेता, जिससे पूरी दुनिया में बाज़ार संकुचन की सम्भावना बढ़ जाती और निर्धन देशों की कठिनाइयाँ भी बहुत बढ़ जातीं। बैंक यदि लाभ-हानि दोनों में शरीक हों तो वे कभी भी किसी एक कंपनी को इतना क़र्ज़ न दें। यह ज़मानत (Collateral) पर ज़रूरत से ज़्यादा भरोसा ही तो है जो उन्हें ऐसा करने के लिए तैयार करता है।

विदेशी मुद्रा विनिमय (Foreign Exchange) के बाज़ार में संकट

अल्पावधि क़र्ज़ों पर भारी निर्भरता ने विदेशी मुद्रा विनिमय की मंडियों को भी बड़ी हद तक अस्थिर कर दिया है। मुद्रा विनिमय के क्रय-विक्रय बाज़ारों में रोज़ाना की कुल राशि (Turnover) अप्रैल 1998 ई॰ में 1490 बिलियन डॉलर थी।[21] इसके मुक़ाबले में व्यापारिक माल का आयात-निर्यात केवल 30 बिलियन डॉलर के बराबर था।[22] इस प्रकार दुनिया भर में विदेशी मुद्रा विनिमय का रोज़ाना क्रय-विक्रय व्यापारिक माल की लागत का 49 गुना था। इससे स्पष्ट होता है कि विदेशी मुद्रा विनिमय के क्रय-विक्रय का अधिकतर भाग सट्टे के उद्देश्य के लिए होता है और मुद्रा विनिमय की दरों में हद से ज़्यादा उतार-चढ़ाव का यह एक बहुत बड़ा कारण है। इसलिए B.I.S (Bank for International Settlements) के जेनरल मैनेजर एन्ड्रयू क्रोकेट (Andrew Crocket) ने ठीक ही कहा है, "हमारी अर्थव्यवस्था की अदायगी-प्रणाली की कमर टूटने के ख़तरे की वजह से असुरक्षित होती जा रही है।"[23]

---

20. IMF, World Economic Outlook, December 1998, P-55.
21. देखिए BIS की 19 अक्टूबर, 1998 की प्रेस रिलीज़।
22. दुनिया का कुल आयात और निर्यात अप्रैल 1998 ई॰ में 9087 बिलियन डॉलर के मूल्य के बराबर था, IMF International Financial Statistics, November 1998। इस प्रकार अप्रैल 1998 में रोज़ाना का औसत व्यापार 30.30 बिलियन डॉलर था।
23. BIS Press Release, 22 June, 1994, P-3.

यदि अल्पावधि के क़र्ज़ों पर ज़्यादा निर्भरता ठीक नहीं तो फिर दीर्घावधि ऋणों और लाभ-हानि में साझेदारी पर आधारित पूँजी-निवेश (Equity) की निर्भरता को बढ़ाना होगा। इन दोनों में से निजी पूँजी पर आधारित पूँजी-निवेश (Equity) ज़्यादा बेहतर है क्योंकि इसमें पूँजी लगानेवाला योजनाओं की अच्छी तरह छानबीन करने पर मजबूर हो जाता है।[24] इससे पूँजी-निवेश के काम में ज़्यादा अनुशासन आता है और अर्थव्यवस्था में सुधार पैदा होता है। इसलिए दुनिया के कई प्रसिद्ध स्कालर्स ने, जिनमें Hyman Minsky, Kindleberger Charles, Joan Robinson. G.L. Bach, Henry Simons और Kenneth Rogoff शमिल हैं, यह नतीजा निकाला है कि ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें निजी पूँजी पर आधारित निवेश पर ज़्यादा निर्भरता की गई हो, क़र्ज़ों पर ज़्यादा भरोसा करनेवाली अर्थव्यवस्था की अपेक्षा ज़्यादा स्थिर होगी।[25]

सारांश

इस प्रकार स्पष्ट है कि निजी भागीदारी (शेयर) पर आधारित पूँजीनिवेश मानव कल्याण के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ज़्यादा सहयोगी साबित हो सकता है। ऐसी व्यवस्था में यह सम्भव होगा कि सभी इनसानों की जीवन सम्बन्धी आवश्यकताएँ बेहतर तरीक़े पर पूरी हों। सभी लोगों को सम्माननीय तरीक़े से धनोपार्जन के अवसर मिल सकें। आय तथा धन का न्यायसंगत वितरण हो और वित्तीय एवं आर्थिक स्थिरता प्राप्त हो। पूँजीवादी व्यवस्था इन सभी उद्देश्यों को प्रभावी तरीक़े से प्राप्त नहीं कर सकती। इस नाकामी की वजह यह नहीं है कि इस अर्थव्यवस्था पर अमल करनेवाले देशों को लक्ष्य मानव कल्याण की प्राप्ति नहीं है या यह कि उनके पास ऐसी इच्छाशक्ति और संसाधनों की कमी है जो उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ज़रूरी हैं।

---

24. IMF, World Economic Outlook, May 1998, P-82.

25. Minsky, 1975.
Simons, 1948 P-320. Joan Robinson, December 1977, P-133. Kindleberger, 1978, P-66. Bach 1977, P-182 और Rogoff, Fall 1999, P-211-216.

उनकी नाकामी की बुनियादी वजह वह मूल विरोधाभास है जो इस अर्थव्यवस्था के लक्ष्य और रणनीति के बीच पाया जाता है। इन देशों का घोषित लक्ष्य तो मानव कल्याण ही है जिसका स्रोत इन देशों के धार्मिक मूल्य हैं, परन्तु इसके विपरीत उनकी रणनीति की बुनियाद उनके धार्मिक मूल्यों पर आधारित नहीं है, बल्कि डार्बिन के नास्तिकता के दर्शन पर आधारित है, जो सामर्थ्यवान के विकास और निरीह के अन्त को मान्यता देता है। यह पॉलिसी पूँजी के विभिन्न इस्तेमालों के बीच वितरण (Allocation of Resources) के लिए ब्याज दर को बुनियादी दर्जा देती है। इससे धनी वर्ग को संसाधनों की प्राप्ति में प्रधानता मिलती है, जिसके कारण यही नहीं कि धनी ज़्यादा धनी बनते हैं और इस प्रकार धन का केन्द्रीकरण होता है, बल्कि यह कि दिखावे, अय्याशी, सट्टे और ग़ैर-ज़रूरी ख़र्चों में वृद्धि होती है। इससे मानव कल्याण के हितों को चोट पहुँचती है और पूँजी की अन्तर्राष्ट्रीय मंडियों में अस्थिरता पैदा होती है। अतः मिल्स (Mills) और प्रिसले (Presley) ने ठीक ही नतीजा निकाला है कि :

> "यदि हम पलटकर इतिहास पर नज़र डालें तो हमें इस बात पर यक़ीन करने के लिए पर्याप्त दलीलें मिलती हैं कि काश सोलहवीं सदी ईसवी में यूरोप में 'ब्याज के हराम' होने का विरोध न किया गया होता। ब्याज के हराम होने के नैतिक पक्ष के पीछे जो व्यावहारिक तत्वदर्शिता है इसकी उस समय सही समझ नहीं थी।"[26]

26. Mills and Presley, 1999, P-120.

अध्याय : 3

क्या ब्याज रहित बैंकिंग-व्यवस्था सम्भव है?

पिछले दो लेखों में जिन दो सवालों पर वार्ता की गई थी वे ये थे कि क्या इस्लाम में ब्याज वाक़ई हराम (वर्जित) है? और यदि वाक़ई हराम है तो इसके पीछे क्या हिकमत (तत्वदर्शिता) काम कर रही है? इन दो सवालों का जवाब देने के बाद जो तीसरा सवाल पाठक के ज़ेहन में उभरता है वह यह है कि क्या आज के दौर में ब्याज के लेन-देन के बिना एक व्यावहारिक और प्रभावशाली वित्तीय एवं बैंकिंग-व्यवस्था स्थापित की जा सकती है?

मुसलमानों की ज़्यादातर संख्या और कुछ पश्चिमी चिन्तक भी इस सवाल का सकारात्मक जवाब देते हैं जबकि कुछ अन्य लोग, जिंनमें कुछ मुसलमान भी शामिल हैं, इसका नकारात्मक जवाब देते हैं। इस नकारात्मक जवाब के पीछे उनकी दलील यह है कि ब्याज दर एक क़ीमत है और दूसरी सभी वस्तुओं की क़ीमतों की तरह किसी अर्थव्यवस्था में आर्थिक संसाधनों की माँग एवं आपूर्ति के बीच सन्तुलन बनाने में अहम भूमिका निभाती है। यदि सूद (ब्याज) को ख़त्म कर दिया जाए तो आर्थिक संसाधन किस तरह जुटाए जाएँगे और किस तरह इस्तेमाल होंगे। क़ीमत के बिना माँग बहुत ज़्यादा होगी और आर्थिक संसाधन उपलब्ध कराने के लिए कोई तैयार नहीं होगा। इस प्रकार माँग और आपूर्ति के बीच संतुलन ख़त्म हो जाएगा। इसलिए उनका आग्रह है कि इसके बावजूद कि ब्याज बहुत-सी ख़राबियों की जड़ है, हमें उसे सहन करना होगा।

इस बात से कोई मतभेद नहीं कर सकता कि बचत करनेवालों की अतिरिक्त रक़में इकट्ठा करने और उन्हें इस्तेमाल करनेवालों के बीच बाँटने के लिए एक ऐसी क़ीमत का होना ज़रूरी है जो न केवल माँग और आपूर्ति में सन्तुलन बनाए रखे बल्कि उसे जारी भी रखे। परन्तु इस बात पर मतभेद हो सकता है कि कौन-सी क़ीमत सबसे ज़्यादा उचित है। पाठक इस बात

से सहमत होंगे कि वही क़ीमत सबसे ज़्यादा उचित है जो माँग और आपूर्ति में सन्तुलन बनाने के अलावा हमें अपने मूल उद्देश्य की प्राप्ति में भी मदद करे।

यह उद्देश्य क्या है? स्पष्ट है कि इस्लाम के दृष्टिकोण से यह उद्देश्य तमाम इनसानों की, बिना किसी भेदभाव के, भलाई और कल्याण है, चाहे वे गोरे हों या काले, अमीर हों या ग़रीब, मर्द हों या औरत और बच्चे हों या बूढ़े। ऐसी भलाई उसी स्थिति में प्राप्त हो सकती है जब चन्द सहवर्ती उद्देश्य पूरे हों। उनमें से चार जो बहुत ज़रूरी हैं, वे ये हैं कि (1) तमाम इनसानों की कम-से-कम बुनियादी ज़रूरतें पूरी हों, (2) रोज़गार के अवसर बढ़ें ताकि हर व्यक्ति अपनी योग्यता एवं मेहनत के सापेक्ष रोज़ी कमा सके, (3) धन का न्यायसंगत वितरण हो और (4) आर्थिक स्थिरता भी प्राप्त हो।

पिछले लेख में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि मानव-कल्याण एवं विकास के लिए उपरोक्त उद्देश्यों का पूरा होना एक ब्याज पर आधारित व्यवस्था में भलीभाँति सम्भव नहीं है। ब्याज पर आधारित व्यवस्था में क़र्ज़ों को प्रोत्साहन मिलता है और आसानी से उपलब्ध हो जाता है। जिसके कारण व्यक्ति एवं सरकारों में अपनी आमदनी से ज़्यादा ख़र्च करने का रुझान बढ़ता है। इससे एक ओर तो बचत में कमी होती है और दूसरी ओर बृहत अर्थव्यवस्था (Macro economy) की कठिनाइयों के अलावा वित्तीय व्यवस्था में भी अस्थिरता पैदा होती है। इस वजह से वे संसाधन जो ज़िन्दगी की अहम ज़रूरतें पूरी करने और पैदावारी पूँजी-निवेश को बढ़ाने के लिए आवश्यक होते हैं, वे विलासिता पर ख़र्च होने एवं अलाभकारी उपयोग के बढ़ने के कारण कम पड़ जाते हैं। बचत में यह कमी, अर्थव्यवस्था के ढाँचे में लचीलापन न होने (Structural Rigidities) और अन्य सामाजिक एवं आर्थिक दोषों के साथ मिलकर पूँजीनिवेश की दर और रोज़गार के अवसरों के बढ़ने की दर को कम कर देती है। और इस प्रकार कुल मिलाकर आर्थिक विकास पर बुरा असर पड़ता है। ग़रीब लोगों पर इस कारण सबसे ज़्यादा बुरा असर पड़ता है और आर्थिक विषमता में इज़ाफ़ा होता है। यही कारण हैं

ज़िनके आधार पर अन्य धर्मों की तरह इस्लाम ने भी ब्याज को हराम क़रार दिया है। सरकार और निजी क्षेत्रों के ग़ैर-ज़रूरी ख़र्चों में कमी से उम्मीद की जा सकती है कि राष्ट्रीय बचत में वृद्धि होगी और निजी पूँजी की बुनियाद पर पूँजी-निवेश को बढ़ावा मिलेगा। फिर भी चूँकि इस्लाम एक हक़ीक़त-पसन्द (यथार्थवादी) और व्यावहारिक दीन (धर्म) है वह उधार लेने-देने को भी मान्यता देता है। बशर्ते कि वह वास्तविक वस्तुओं एवं सेवाओं के क्रय-विक्रय के लिए हो और वस्तुओं, शेयरों, प्रॉपर्टी एवं मुद्रा विनिमय के बाज़ारों में सट्टे के लिए न हो। इस मक़सद के लिए उसने कुछ ब्याजरहित तरीक़े भी बताए हैं, जो हम इस लेख में आगे चलकर देखेंगे। इस तरह एक इस्लामी अर्थव्यवस्था में वित्तीय लेन-देन दो तरीक़ों से होगा। उनमें से एक लाभ-हानि में साझेदारी की बुनियाद पर होगा और दूसरा इस्लाम के बताए हुए तरीक़े पर वास्तविक वस्तुओं के उधार क्रय-विक्रय के द्वारा।

लाभ-हानि में साझेदारी की बुनियाद पर पूँजी-निवेश

इस्लाम में पूँजी-निवेश का सबसे पसंदीदा तरीक़ा साझा व्यवसाय का है जिसके दो तरीक़े हैं—मुज़ारबत[1] और मुशारकत।[2] "मुज़ारबत में एक पक्ष पूँजी लगाता है और दूसरा पक्ष उद्यम करता है जबकि मुशारकत में सभी पक्ष पूँजी लगाने के साथ-साथ उद्यम भी करते हैं।" पूँजी-निवेश के इन दोनों तरीक़ों में पूँजी लगानेवाला क़र्ज़ देने की तरह ब्याज नहीं लेता, बल्कि लाभ-हानि में शरीक होता है। यदि लाभ हुआ तो एक निश्चित अनुपात से

1. मुज़ारबत उस समझौते को कहते हैं जिसमें एक या उससे ज़्यादा लोग पूँजी उपलब्ध कराते हैं और मुज़ारिब (उद्यमी) अपने परिश्रम और योग्यताओं से उसे सहमति के अनुसार लाभकारी कामों में लगाते हैं। लाभ सहमति के अनुसार सबमें वितरित होगा, परन्तु हानि होने पर पूँजी-निवेशक को उसे सहन करना होगा। उद्यमी का नुक़सान यह होगा कि उसे अपनी योग्यताओं, परिश्रम एवं कौशल का कोई बदला नहीं मिलेगा।
2. मुशारकत उस समझौते को कहते हैं जिसमें सभी साझेदार पूँजी लगाते हैं और परिश्रम और योग्यताएँ भी। लाभ सहमति के अनुसार वितरित होगा, परन्तु हानि उनकी पूँजी के अनुपात से सबको सहन करनी होगी।

उसको लाभ में से हिस्सा मिलेगा। और यदि हानि हुई तो वह उसे अपनी पूँजी के अनुपात से ही सहन भी करेगा। लाभ में भागीदार होने का अनुपात कुछ भी हो सकता है, जिसपर पूँजीपति और उद्यमी इस्लाम के न्यायोचित उसूलों की बुनियाद पर सहमत हो जाएँ। इस अनुपात को तय करने में कई तथ्यों को ध्यान में रखा जाएगा, जिसमें योग्यता, ख्याति, श्रम और जोखिम सम्मिलित हैं। परन्तु हानि में भागीदारी का अनुपात केवल पूँजी के अनुपात के अनुसार ही हो सकता है।[3] हानि में भागीदारी पूँजीपति की निवेशित राशि की हद तक ही होगी उससे ज़्यादा नहीं। कम्पनियों के शेयरों में पूँजी-निवेश चूँकि लाभ-हानि में भागीदारी की बुनियाद पर होता है इसलिए वह भी स्वीकार्य है। ऐसी कम्पनियों का फ़ायदा यह है कि उनके माध्यम से बड़े पैमाने पर पूँजीनिवेश हो सकता है और ज़्यादा जोखिम भी वहन किए जा सकते हैं। इसके लिए उचित क़ानूनों के तहत एक संगठित शेयर बाज़ार (स्टॉक मार्केट) की मौजूदगी ज़रूरी है ताकि निवेशक जब चाहे अपने शेयर बेच सके। यह ऐसी सुविधा है जो मुज़ारबत और मुशारकत के पूँजी-निवेश में मौजूद नहीं। कम्पनियों के शेयर सरकारों और कम्पनियों के लिए ब्याज आधारित बॉंड के अच्छे विकल्प हो सकते हैं।

इतिहास की गवाही

लाभ-हानि में भागीदारी पर आधारित व्यवस्था का जो संक्षिप्त ख़ाका ऊपर पेश किया गया है वह तो इस समय दुनिया में कहीं भी पूर्णतः लागू नहीं है। यहाँ यह सवाल उभरता है कि क्या इतिहास में कभी ऐसी व्यवस्था लागू हुई है? इतिहास इस बात की गवाही देता है कि मुसलमानों ने अपनी पैदावार और व्यापारिक गतिविधियों में पूँजी-निवेश के लिए मुज़ारबत और मुशारकत पर आधारित ब्याज रहित वित्तीय व्यवस्था कामयाबी के साथ

3. शाफ़ई मसलक के अनुसार लाभ का भी वितरण पूँजी के अनुपात में होना चाहिए। यह राय इस सोच पर आधारित है कि श्रम और योग्यताओं का जो हिस्सा कुल लाभ में है उसका अन्दाज़ा करना कठिन है और यह कि तमाम हिस्सेदार अपनी पूँजी और लाभ में साझेदारी के अनुपात में श्रम और योग्यताओं को भी काम में लाएँगे।

सदियों तक चलाई थी। प्रोफ़ेसर यूडोविच (Udovitch), जो प्रिंसटन यूनिवर्सिटी में निकट पूर्व (Latter East) डिपार्टमेंट के अध्यक्ष थे, लिखते हैं कि "मुज़ारबत और मुशारकत के तरीक़ों ने मध्यकाल में इस बात को सम्भव बना दिया था कि समाज के पास जो वित्तीय संसाधन उपलब्ध हैं वे पूरे के पूरे जमा करके कृषि, उद्योग-धंधों और दूरगामी व्यापार के विकास के लिए इस्तेमाल किए जाएँ[4] और ये तरीक़े केवल मुसलमान ही नहीं बल्कि यहूदी और ईसाई भी इस हद तक इस्तेमाल करते थे कि ब्याज पर आधारित क़र्ज़ों का इस्तेमाल न होने के बराबर था।"[5] प्रोफ़ेसर गोइताइन (Goitein) के अनुसार ब्याज के ख़िलाफ़ यहूदियत, ईसाइयत और इस्लाम के क़ानून का विरोध उन्हें मिस्र के जिनीज़ा दस्तावेज़ों (Geniza Documents) के केवल एक ही अनुभाग में मिला जबकि उन दस्तावेज़ों का एक बहुत बड़ा भाग पूँजी-निवेश से सम्बन्ध रखता था।[6] प्रोफ़ेसर शाट्ज़मिलर (Schatzmiller) भी इसी नतीजे तक पहुँचे हैं कि स्पेन में इस्लामी इतिहास के शुरू ही के दौर से धनी लोगों ने पूँजी-निवेश को बढ़ावा दिया था और ब्याज के हराम होने से उनके लिए इस काम में किसी प्रकार की रुकावट पैदा हुई थी।[7]

इस्लामी इतिहास में जो लोग बैंकों की तरह सेवाएँ उपलब्ध कराते थे, उन्हें 'सर्राफ़' कहा जाता था। अब्बासी ख़लीफ़ा अल-मुक़तदिर, जिनकी ख़िलाफ़त (295 हि०/908 ई० से 320 हि०/933 ई०) तक रही, उनके दौर के शुरू ही से सर्राफ़ आज के बैंकों की तरह अधिकतर कार्य करने लगे थे।[8] उनकी अपनी मंडियाँ थीं जिनमें कृषि, उद्योग-धंधों व व्यापार के लिए बैंकिंग

4. यूडोविच, 1970, पृष्ठ 180 और 261।
5. यूडोविच, 1981, पृष्ठ 257 और 268।
6. गोइटाईन (Goitein), 1967, पृष्ठ 235 और 250। इसके अतिरिक्त देखें गोइटाईन 1966, पृष्ठ 271-274। जिनीज़ा दस्तावेज़ पुरातात्विक खोज के सिलसिले में खुदाई के समय मिस्र में प्राप्त हुई थीं और उसे समझ पाने में सफलता बड़ी मुश्किल से प्रोफ़ेसर गोइटाईन ने प्राप्त की थी।
7. शाट्ज़ मुलर, 1994 पृष्ठ 102।
8. फ़िशल (Fischel), 1992।

की अधिकतर आवश्यकताएँ न्यूयार्क के वॉल स्ट्रीट (Wall Street) और लंदन के लोम्बार्ड स्ट्रीट (Lombard Street) की भाँति तत्कालीन तकनीकी विकास के दायरे में पूरी की जाती थीं।[9] परन्तु चूँकि ये सर्राफ़ आज की पारिभाषिक एवं तकनीकी शब्दावली के अनुसार बैंक नहीं कहलाते थे इसलिए यूडोविच ने उन्हें "बग़ैर बैंक के बैंकर्स" कहने को प्रधानता दी है।[10]

इस्लामी इतिहास में सर्राफ़ों के माध्यम से पूँजी-निवेश के लिए बचतों के बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किए जाने की वजह से मुसलमानों की कृषि व उद्योग-धंधों को ज़बरदस्त बढ़ावा मिला था। उनका व्यापार पश्चिम में मराकश और स्पेन तक, पूर्व में भारत, मंडानाव और चीन तक, उत्तर में मध्य एशिया तक और दक्षिण में अफ्रीक़ा तक फैल गया था। इसका प्रमाण केवल ऐतिहासिक दस्तावेज़ों से ही नहीं बल्कि सातवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक जारी किए गए मुसलमानों के उन सिक्कों से भी मिलता है, जो पुरातात्विक खुदाई के ज़रीए रूस, फ़िनलैण्ड, स्वीडन, नार्वे, ब्रिटिश द्वीप समूह और आइसलैण्ड में पाए गए हैं। ध्यान दीजिए कि ये देश मुस्लिम जगत् का भाग नहीं थे बल्कि उसके आसपास में मौजूद थे।[11] इसका अर्थ यह है कि उन दूर दराज़ के देशों के साथ भी व्यापार होता था और इसके लिए जिस पूँजी की ज़रूरत थी, वह उपलब्ध थी।

बहुत-से ऐतिहासिक कारकों के आधार पर मुस्लिम जगत् अपने नैतिक, तकनीकी और आर्थिक वर्चस्व से वंचित हो गया।[12] इसकी वजह से साम्राज्यवादी शक्तियों ने अधिकतर मुस्लिम देशों पर क़ब्ज़ा कर लिया और बहुत-सी इस्लामी-संस्थाओं के स्थान पर अपनी संस्थाएँ खड़ी कर दीं। इन संस्थाओं में इस्लाम की पूँजी निवेशिक व्यवस्था भी शामिल थी। परन्तु अल्लाह की कृपा से मुसलमान देशों की आज़ादी के बाद इस्लाम की

9. दौरी, 1986, पृष्ठ 898।
10. यूडोविच, 1981।
11. क्रेमर्ज़ (Kramers), 1952, पृष्ठ 100। इसके अतिरिक्त देखिए Chapra 2000, पृष्ठ 173-252
12. विस्तार के लिए देखिए Chapra (C), 2000 पृष्ठ 173-252।

पुनरुत्थानवादी तहरीकों (आन्दोलनों) को बल मिला हैं और बहुत-सी गुमशुदा संस्थाओं के पुनरुत्थान की कोशिश हो रही है। इससे यह सवाल पैदा होता है कि क्या मुज़ारबत और मुशारकत के तरीक़े अतीत की तरह एक बार फिर पूँजी-निवेश के बढ़ावे और स्वस्थ आर्थिक विकास के लिए वही सक्रिय और सम्माननीय भूमिका निभा सकते हैं, जो उन्होंने अतीत में निभाई थी।

ऐसा न करने की बज़ाहिर तो कोई उचित वजह नज़र नहीं आती। बल्कि उस समय से अब तक दुनिया में जो तकनीकी विकास हुआ है। विशेषकर संचार माध्यमों का विकास, अंकेक्षण एवं लेखा-परीक्षण (Accounting and Auditing) के तरीक़ों में बेहतरी और उन सबसे बढ़कर सूचना तकनीक (Information Technology) में क्रान्ति, इसकी वजह से इस्लामी पूँजी-निवेश के तरीक़ों पर अमल करना अपेक्षाकृत आसान होगा। इन सुविधओं की मदद से हिसाब-किताब को बेहतर बनाने, आय-व्यय के रिकार्ड को ज़्यादा पारदर्शी बनाने, लाभ का सही अनुमान करने और उन सबकी निगरानी और जाँच-पड़ताल को प्रभावी बनाने में ज़्यादा मदद मिल सकती है।

विक्रय के आधार पर पूँजी-निवेश के तरीक़े

इन सब सहूलतों के बावजूद मुशारकत और मुज़ारबत के ज़रीए सभी वित्तीय ज़रूरतों को पूरा करना सम्भव नहीं है। जैसे किसी को रहने के लिए मकान चाहिए और वह उसे ख़रीद नहीं सकता या ख़रीदना नहीं चाहता तो वह किसी मकान के उपयोग का हक़ किराया देकर प्राप्त करना चाहता है। इसमें लाभ-हानि साझेदारी सम्भव नहीं। या फिर किसी को गाड़ी ख़रीदनी है वह क़ीमत तुरन्त अदा न कर सकने की वजह से क़िस्तों में अदा करना चाहता है, तो इसमें भी लाभ-हानि की साझेदारी सम्भव नहीं। चूँकि शरीअत की शिक्षाएँ हक़ीक़तपसन्दी पर आधारित हैं इसलिए वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन सभी माध्यमों के इस्तेमाल की इजाज़त देती है जो उसके स्थापित किए हुए मूल्यों से टकराते न हों। इसलिए उसने वास्तविक वस्तुओं या उनके उपयोग-अधिकार के क्रय-विक्रय के लिए कुछ तरीक़ों को जाइज़

क़रार दिया है। इनमें से सबसे ज़्यादा प्रचलित और व्यावहारिक तरीक़े बैअ-मुअज्जल या मुराबहा, इजारह, बैअ-सलम, और इस्तिस्नाअ हैं। ये सभी तरीक़े वास्तविक वस्तुओं या उनके उपयोग-अधिकार के क्रय-विक्रय से सम्बन्ध रखते हैं। इनका मक़सद लोगों को ब्याज में लिप्त हुए बिना उन चीज़ों तक पहुँच के योग्य बनाना है जो वे चाहते हैं, परन्तु जिनकी क़ीमत या तो वे तुरन्त अदा नहीं कर सकते या नहीं करना चाहते। इन सबमें जहाँ ख़रीदार के लिए सहूलत है कि उसे एक चीज़ या उसका बिना मिल्कियत उपयोग का अधिकार पूरी रक़म अदा किए बिना प्राप्त हो जाए, वहाँ मालिक के लिए यह इत्मीनान है कि उसे लाभ-हानि में साझेदारी की अपेक्षा कम जोखिम लेना पड़ेगा।

इन सभी तरीक़ों में जो तरीक़े ज़्यादा प्रचलित हैं वे हैं बैअ-मुअज्जल और इजारह। बैअ-मुअज्जल में एक व्यक्ति एक वस्तु अभी ख़रीदता है लेकिन उसकी क़ीमत आपसी सहमति से बाद में एक मुश्त या क़िस्तवार अदा करता है। इसी को मुराबहा भी कहते हैं। इजारह (Leasing) में एक व्यक्ति अपनी ज़रूरत की चीज़ को ख़रीदता नहीं बल्कि उसके इस्तेमाल का अधिकार किराया देकर प्राप्त करता है, यह भी सम्भव है कि एक व्यक्ति किसी चीज़ का उपयोग-अधिकार इस सहमति पर प्राप्त करे कि इतनी अवधि के बाद वह उस चीज़ का मालिक बन जाएगा। बैअ-सलम में बैअ-मुअज्जल के विपरीत ख़रीदार क़ीमत पहले अदा करता है और चीज़ पहले से निर्धारित एक ख़ास अवधि के बाद वुसूल करता है। जैसे किसान अपनी ज़रूरत की रक़म प्राप्त करने के लिए अपनी कपास की पैदावार का कुछ हिस्सा पहले से बेच दे और कपास की फ़सल तैयार होने के बाद एक निर्धारित अवधि के अन्दर दे। इस प्रकार किसान को ब्याज पर क़र्ज़ लेने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। इस्तिस्नाअ में एक व्यक्ति अपनी ज़रूरत की चीज़ की फ़रमाइश उसके बनानेवाले या ठेकेदार से करता है और उसकी क़ीमत या तो उस चीज़ की डिलिवरी के समय अदा करता है या बाद में—जैसी सहमति हो। इसके अलावा और भी तरीक़े हैं, परन्तु वे सभी इन्हीं तरीक़ों की शाखाएँ हैं और उनके विस्तार में जाने की ज़रूरत नहीं।

मुज़ारबत, मुशारकत और क्रय-विक्रय के इन सभी तरीक़ों के ज़रीए वित्त एवं पूँजी-निवेश की सभी ज़रूरतें पूरी हो सकती हैं, चाहे उनका सम्बन्ध सरकारों से हो या निजी क्षेत्रों से। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि ब्याजरहित व्यवस्था आज के समय की तमाम वित्तीय ज़रूरतों को पूरा करने में असमर्थ है।

चूँकि किसी चीज़ की मिल्कियत या उसके उपयोग-अधिकार को प्राप्त करने के लिए जो तरीक़े शरीअत ने जाइज़ क़रार दिए हैं उनमें लाभ की दर पेशगी तय की जाती है, इससे बज़ाहिर ऐसा लगता है कि यह तो ब्याज ही की तरह है। यही आपत्ति अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के ज़माने में भी कुछ लोगों ने की थी कि : "बैअ (क्रय-विक्रय) भी तो रिबा (ब्याज) ही की तरह है" (क़ुरआन, 2:275), इसलिए कि इसमें भी लाभ की दर पहले से निर्धारित की जाती है। परन्तु हक़ीक़त में ऐसा नहीं है क्योंकि शरीअत ने इन तरीक़ों के औचित्य के लिए कुछ शर्तें निर्धारित की हैं। उन शर्तों का मक़सद इस बात को यक़ीनी बनाना है कि मालिक भी किसी हद तक ख़तरा (जोखिम) मोल ले और उधार या किराया पर लेने वाले के हित की भी रक्षा की जाए। इन शर्तों को पूरा करने से इस बात की सम्भावना नहीं रहेगी कि ये तरीक़े पूँजी-निवेश का ऐसा रूप ले लें जिससे सूक्ष्म तरीक़े से भी ब्याज के हराम होने की नीति को ठेस पहुँचे।

आपत्तियाँ

आज के दौर में पूँजी-निवेश के इस्लामी तरीक़ों के विकास पर बहुत-सी आपत्तियाँ की गई हैं जिनमें से कुछ ये हैं—

नैतिक पतन

एक आपत्ति यह की जाती है कि इस दौर में जब लोगों की नैतिक हालत इतनी गिर चुकी है तो इस बात की क्या ज़मानत है कि बैंक से लाभ-हानि में साझेदारी की बुनियाद पर पूँजी लेनेवाले अपनी लाभ-हानि की सही दर बताएँगे। इसका जवाब यह है कि केवल नैतिक श्रेष्ठता की अवधारणा पर कोई व्यवस्था नहीं चल सकती और न ही लोग इसे ध्यान में

रखकर एक-दूसरे से मामला ही करते हैं। हर ज़माने में लोगों ने अपने हितों की रक्षा के लिए विभिन्न तरीक़े अपनाए हैं। अपने घरों और दुकानों पर ताले लगाए हैं। समझौतों पर हस्ताक्षर किए हैं। समाज और सरकारों ने बॉयकाट और सज़ाओं का प्रावधान किया है ताकि जो लोग चोरी करते हैं या धोखा देते हैं उन्हें सज़ा दी जाए।

इन तरीक़ों में से एक माँग एवं आपूर्ति की बाज़ार-शक्तियाँ (Market forces) भी हैं, जो बड़ी हद तक नैतिक कमज़ोरी पर क़ाबू पाती हैं। बैंकों से क़र्ज़ लेनेवाले सिर्फ़ एक या दो कारोबारी तो नहीं होंगे, बल्कि हज़ारों कारोबारी होंगे। यदि किसी ने बेईमानी की कोशिश की तो इसका पता उस समय चल जाएगा जब उसकी लाभ-हानि की दर की तुलना दूसरे कारोबारी और विशेषकर ईमानदार कारोबारी के लेखा-जोखा से की जाएगी। बेईमानी करनेवाले कारोबारी की साख गिर जाएगी और चूँकि यह बात सबको मालूम हो जाएगी, सभी बैंक और व्यापारी उसकी करतूत से अवगत हो जाएँगे, अतः भविष्य में कोई भी उसपर भरोसा नहीं करेगा। इस प्रकार वह ख़ुद अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारेगा और अपने भविष्य को अन्धकारमय बनाएगा।

परन्तु केवल बाज़ारी शक्तियों पर पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता। इस बात की भी ज़रूरत है कि बैंकों को सुरक्षा प्रदान करने और उनके काम में सहयोग के लिए सहयोगी संस्थाएँ (Shared Institutions) स्थापित की जाएँ।[13] इसमें से एक बैंकों, कम्पनियों और व्यापारियों की क़र्ज़ की साख निर्धारित करनेवाली संस्थाएँ (Credit Rating Agencies) हैं जो बैंकों से मामला करनेवाले सभी व्यापारियों के बारे में ज़रूरी मालूमात प्राप्त करेंगी, हिसाब-किताब देखेंगी और बाज़ारों में उनकी ख्याति का मूल्यांकन करेंगी।

बहुत-से देशों में ऐसी संस्थाएँ हैं धीरे-धीरे इन संस्थाओं को बल मिलेगा। यहाँ तक कि सभी बैंकों, कम्पनियों और व्यापारियों की साख का

13. इन सभी संस्थाओं के बारे में देखिए Chapra (C), 1985, पृष्ठ 81-174 और Chapra & Khan, 2000, पृष्ठ 85-91।

ज्ञान हो सकेगा। चूँकि साख के स्तर के निर्धारण (Credit Rating) के बिना बैंको से लाभ-हानि में भागीदारी की बुनियाद पर मामला करना कठिन होगा, इसलिए सभी ऐसी संस्थाओं के साथ सहयोग करने पर मज़बूर होंगे। जो सहयोग नहीं करेंगे, उनकी साख ख़त्म हो जाएगी। इससे पारदर्शिता बढ़ेगी और लोगों को एक-दूसरे के साथ मामला करने में आसानी होगी। इसके अलावा ज़रूरत इसकी भी है कि अंकेक्षण (Accounting) और लेखा-परीक्षण (Auditing) की संस्थाओं का सुधार हो ताकि यदि कोई व्यापारी बैंक को सही लाभ नहीं बताता है, तो उसे बैंकों के माध्यम से एक तफ़्तीशी संस्था (Audit Organization) के पास भेजा जाए और यदि उसकी जाँच-पड़ताल से साबित हो जाए कि उस व्यापारी ने बेईमानी की है तो उसका नाम समाचार पत्रों में प्रकाशित किया जाए और वाणिज्य संगठन (Chambers of Commerce) और व्यापारी-समुदाय (Trade Associations) उसका बॉयकाट करें।

चूँकि इस्लाम के आरम्भिक काल में ऐसे लोगों को बुरी नज़र से देखा जाता था, और ज़रूरत पड़ने पर सम्पूर्ण समाज उनका बॉयकाट भी करता था, इसलिए वे मजबूर थे कि अपने समझौतों को पूरा करें और दूसरों के हक़ ठीक-ठीक अदा करें। कोई वजह नहीं कि आज के समय में भी व्यापार-संघ और व्यापारी समुदाय ऐसी ही भूमिका न निभा सकें ताकि समाज में लोग अपने समझौते पूरे करें और लोगों का एक-दूसरे पर विश्वास बढ़े। ऐसी कार्य-पद्धति केवल इस्लामी बैंकिंग ही के लिए नहीं बल्कि समाज के सभी क्षेत्रों के सुधार के लिए भी ज़रूरी है। यदि ऐसी कार्य-पद्धति अपनाई जाए तो व्यापारी धोखा देने और बेईमानी करने से डरेंगे और कम्पनियों के डायरेक्टर भी हिस्सेदारों का लाभ हड़प करने से घबराएँगे। क़ुरआन की शिक्षा ''अम्र बिल मारूफ़ व नह्‌य अनिल मुनकर'' (भलाई का आदेश देना और बुराई से रोकना) को सही अर्थों में उसी समय लागू किया जा सकता है जब ग़लत काम करनेवाले लोगों को उनके किए की सज़ा मिले। इस मक़सद के लिए यह भी ज़रूरी है कि बैंक और शरई अदालतें (Shariah Courts) स्थापित किए जाएँ ताकि मुक़दमे कई साल तक लटके न रहें बल्कि उनके फ़ैसले जल्द हो जाएँ।

इन सभी संस्थाओं की चर्चा करने से कोई यह न समझे कि इनकी ज़रूरत केवल इस्लामी अर्थव्यवस्था के लिए ही है। ब्याज आधारित बैंकों को भी इन संस्थाओं की उतनी ही ज़रूरत है जितनी इस्लामी बैंकों को है। जिन देशों में ऐसी संस्थाएँ मौजूद हैं, वहाँ बैंक उत्तम और अधिक सेवा प्रदान कर सकते हैं और अपने देश के आर्थिक विकास में ज़्यादा सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं।

दो चीज़ें लोगों को ईमानदारी पर मजबूर करती हैं—एक परलोक में अल्लाह के सामने जवाबदेही का एहसास और दूसरा दुनिया में बदनामी और सज़ा का भय। परलोक में सज़ा की अवधारणा चूँकि सभी लोगों के ज़ेहन में पुख़्ता नहीं होती इसलिए दुनिया में बदनामी और सज़ा से बचने की कोई राह नहीं। इस्लाम ने इन दोनों पर ज़ोर दिया है। यदि कोई अपनी दुकान में ताला न लगाए तो चोरी तो होगी और सरकार चोरों को पकड़े नहीं और पकड़े तो सज़ा न दे तो फिर चोरी की वारदातें बढ़ जाएँगी, कम नहीं होंगी। यदि सरकारें इस मामले में आलस्य दिखाएँ फिर भी आशा करें कि चोरी, डकैती, धोखेबाज़ी और क़त्ल नहीं होंगे तो यह उनकी भूल है। प्रायः ऐसा वे सरकारें करती हैं जो तानाशाह होती हैं और लोगों के सामने जवाबदेह नहीं होतीं। जब ग़लत काम करनेवाले लोगों को सज़ा नहीं मिलती तो न्याय और इनसाफ़ का ख़ून होता है और समाज तबाही की ओर बढ़ जाता है। क़ुरआन का भी यही स्पष्ट एलान है, "जिसने ज़ुल्म किया वह तबाह हो गया।" (क़ुरआन, 20:111) अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की कई हदीसें भी यही बताती हैं और मुस्लिम विद्वानों ने भी इसी बात पर ज़ोर दिया है।

जमा खातों (Deposits) में कमी

दूसरी आपत्ति जो इस्लाम की बैंकिंग व्यवस्था पर की जाती है वह यह है कि एक ऐसी व्यवस्था में जहाँ बैंक में रक़म जमा करानेवालों को लाभ-हानि में भागीदार होना पड़े वहाँ लोग इस डर से कि उन्हें नुक़सान होगा अपनी रक़में बैंकों से निकाल लेंगे।

इस बात की कोई आशंका नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इस्लामी बैंकों में भी दूसरे बैंकों की तरह विभिन्न प्रकार और अवधि के खाते रखने की गुंजाइश होगी। उनमें तत्काल निकासी के खाते (Demand Deposits) भी होंगे और विभिन्न जोखिमों और अवधि वाले लाभ-हानि में साझा खाते भी।

तत्काल निकासी के खातों पर चूँकि कोई लाभ नहीं दिया जाता इसलिए वे हानि में भी शरीक नहीं होंगे। इस बात को सुनिश्चित करने के लिए बचतों के बीमा (Deposit Insurance) की ज़रूरत है ताकि लोगों को यह इत्मीनान हो कि उनके खाते हर ख़तरे से सुरक्षित हैं।[14] फिर भी साझा खातों पर लाभ-हानि का नियम लागू होगा। लेकिन इस का यह अर्थ कदापि नहीं है कि नुक़सान को ख़त्म करने या कम से कम करने के लिए जो तरीक़े मालूम हैं वे न अपनाए जाएँ। जैसे आजकल प्रबन्ध और व्याख्या को सुचारू रूप से चलाने (Corporate Governance) पर ज़ोर दिया जाता है ताकि हर बैंक की व्यवस्था अपने कर्तव्य सुचारू रूप से पूरा करने पर मजबूर हो। इसके लिए ज़रूरी होगा कि आन्तरिक लेखा-परीक्षण (Internal Audit) और बाह्य लेखा-परीक्षण (External Audit) दोनों प्रभावी (Effective) हों। इसकी भी ज़रूरत होगी कि बैंक प्रबन्धन जोखिम के निर्धारण और उनसे बचने (Risk Management) के लिए हर सम्भव उपाय करे। अपनी परिसम्पत्तियों का विभिन्न रूपों में इस प्रकार निवेश करे कि एक जगह के नुक़सान से पूरी पूँजी न डूब जाए बल्कि दूसरी जगहों के फ़ायदे से उसकी क्षतिपूर्ति हो जाए। जोखिम से निपटने के लिए यह भी ज़रूरी होगा कि लाभवाले सत्रों में बैंक का पूरा लाभ वितरित न कर दिया जाए, बल्कि सुरक्षित (Reserve) पूँजी बढ़ाई जाए ताकि हानिवाले सत्रों में खाता-धारकों को नुक़सान से बचाया जा सके। केंद्रीय बैंकों को भी इस सिलसिले में क़ानून (Regulation) बनाकर और निरीक्षण (Supervision) के ज़रीए अपनी भूमिका भली-भाँति निभानी होगी ताकि इस बात को सुनिश्चित किया जा सके कि बैंकिंग-व्यवस्था ठीक-ठाक चल रही है। ये सब कुछ केवल इस्लामी बैंकों के लिए ही नहीं है बल्कि सभी बैंको के लिए ज़रूरी है और आजकल दुनिया भर में इसपर ज़ोर

14. इसके लिए देखिए Chapra & Khan, 2000, पृष्ठ 64-65।

दिया जा रहा है। यदि केंद्रीय बैंक अपने कर्त्तव्यों को ठीक से पूरा न करें और राजनीतिक व्यवस्था के दूषित होने की वजह से राजनीतिक बुनियादों पर क़र्ज़े दिए जाते हों तो कोई व्यवस्था ठीक से नहीं चल सकती। इसमें कोई सन्देह नहीं की नुक़सान की सम्भावना फिर भी शेष रहेगी। यदि नुक़सान की आशंका से कारोबार और शेयर पर आधारित कम्पनियों (Joint Stock Companies) में पूँजी-निवेश में कमी नहीं आई हो तो यह सोचना हक़ीक़त पसन्दाना न होगा कि लाभ-हानि में साझेदारी की वजह से मुज़ारबे[1] के खातों में कमी हो जाएगी। मुज़ारबा के भी कई प्रकार हो सकते हैं, जैसे वे खाते जिनमें नुक़सान का ख़तरा कम हो, परन्तु लाभ भी कम हो। और वे खाते जिनमें नुक़सान का ख़तरा ज़्यादा हो, परन्तु लाभ भी ज़्यादा हो, ताकि हर प्रकार के खाता-धारकों को उनके हौसले के अनुसार सेवा उपलब्ध की जा सके।

लाभ-हानि में भागीदारी का एक फ़ायदा ज़रूर होगा कि बैंकों में रक़म जमा करानेवाले ज़्यादा सावधानी बरतेंगे। वे अपने बैंकों पर ज़्यादा कड़ी नज़र रखेंगे और ज़्यादा जानकारियाँ प्राप्त करना चाहेंगे जिससे पारदर्शिता बढ़ेगी और बैंकों की सही स्थिति का लोगों को अन्दाज़ा होगा। बैंक भी क़र्ज़े देनें में अधिक सावधानी बरतेंगे और पूरी बैंकिंग व्यवस्था में ज़्यादा बेहतर अनुशासन देखने को मिलेगा। बैंकों में अनुशासन की इसलिए कमी होती है कि ज़मानत पर पूरा भरोसा करने के कारण वे क़र्ज़ लेने के मक़सद को अच्छी तरह नहीं परखते और सट्टे तथा ऐसे ही ग़ैर-ज़रूरी और जोखिम भरे उद्देश्यों के लिए भी क़र्ज़े दे देते हैं। लाभ-हानि में साझेदारी से इस प्रकार के क़र्ज़ों में कमी आएगी। बैंकों की व्यवस्था बेहतर होगी और अस्थिरता में भी कमी आएगी।

अब तक की सफलताएँ

पहला मुकम्मल इस्लामी बैंक दुबई में मार्च 1975 ई॰ में स्थापित किया गया था। इसके बाद जल्द ही अन्य बैंक भी स्थापित होने लगे। 1997 ई॰

1. मुज़ारबे के खातों से यहाँ तात्पर्य बैंक के साथ साझेदारीवाले खातों से है। Joint Account से तात्पर्य नहीं है। —अनुवादक

के अन्त तक दुनिया भर में 176 बैंक और वित्तीय संस्थान स्थापित हो गए थे, उनकी कुल परिसम्पत्तियाँ 147.7 बिलियन डॉलर तक पहुँच गई थीं। इन आँकड़ों में वे काउन्टर शामिल नहीं जो पारम्परिक बैंकों ने मुस्लिम और ग़ैर-मुस्लिम देशों में उन लोगों की बचतें प्राप्त करने के लिए खोले हैं जो ब्याज से बचना चाहते हैं। ताज़ातरीन मालूमात उपलब्ध नहीं, परन्तु विभिन्न अनुमानों के अनुसार सब मिलाकर कुछ परिसम्पत्तियाँ अब तक 200 से 300 बिलियन डॉलर तक पहुँच गई हैं। इस तेज़ गति की तरक़्क़ी से स्पष्ट होता है कि इस्लामी बैंकिंग का नज़रिया न केवल व्यवहारिक है, बल्कि इसकी लाभकारिता भी सर्वविदित है। OECD के विकास केन्द्र (Development Centre) की डायरेक्टर Dr. Traute Wohlers Scharf अपनी किताब में इस बात की पुष्टि करती हैं कि "इस्लामी बैंकिंग मुस्लिम आबादी के उन वर्गों के लिए भी आकर्षण रखती है जो अब तक धार्मिक कारणों से बैंकिंग के दायरे से बाहर थे। इन बैंकों ने अपने हिस्सेदारों और साझा-खातेदारों के लिए लाभ भी कमाया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि ब्याजरहित अर्थव्यवस्था की अवधारणा आज के दौर में भी व्यावहारिक है।"[15]

इस तेज़ तरक़्क़ी से भी ज़्यादा प्रशंसनीय बात यह है कि इस विषय पर पुस्तकों और पत्रिकाओं में स्पष्ट वृद्धि हुई है। ये पुस्तकें और पत्रिकाएँ केवल इस्लामी देशों में ही नहीं बल्कि अमेरिका और यूरोप में भी प्रकाशित हुई हैं और केवल मुसलमानों ने ही नहीं बल्कि ग़ैर-मुस्लिमों ने भी लिखीं हैं। इस प्रकार लोगों में इस्लामी पूँजी-निवेश की समझ आज से 25 साल पहले की अपेक्षा काफ़ी बढ़ी है। जहाँ पहले बहुत कम लोग मुज़ारबत और मुशारकत तथा इस्लामी बैंकिंग के अन्य पारिभाषिक शब्दों से अवगत थे, अब ये शब्द जन-साधारण की ज़बान पर भी हैं। इस्लामी बैंकों को पेश आनेवाली बहुत-सी समस्याओं को हल करने के लिए बड़ी संख्या में इज्तिहादी* क़िस्म

15. Wholers & Scharf, 1983, पृष्ठ 11-12।

* यानी उन मामलों के बारे में क़ुरआन व हदीस की रौशनी में समाधान निकालना जिनके बारे में क़ुरआन और हदीस में कोई स्पष्ट शिक्षा मौजूद नहीं।

के फ़ैसले हुए हैं और उच्च कोटि का इल्मी काम हुआ है, जो क़ानून बनाने के लिए मज़बूत आधार उपलब्ध करेगा।

केवल मुसलमान ही नहीं बल्कि ग़ैर-मुस्लिम भी, और केवल इस्लामी विकास बैंक और मुसलमान फ़िक़ही संस्थाएँ ही नहीं बल्कि ग़ैर-मुस्लिम अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी दिलचस्पी लेने लगी हैं। उनमें आई॰ एम॰ एफ़॰, वर्ल्ड बैंक और बी॰आई॰एस॰ भी शामिल हैं। पश्चिमी देशों में विभिन्न यूनिवर्सिटियों ने भी दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी है। उनमें अमेरिका का हार्वर्ड लॉ स्कूल और राइस यूनिवर्सिटी तथा ब्रिटेन की लॅफ़बरो (Loughborough) और डरहम यूनिवर्सिटियाँ और लन्दन स्कूल ऑफ़ इकोनॉमिक्स भी शामिल हैं। कुछ यूनिवर्सिटियों ने तो इस विषय पर सेमिनार और कांफ्रेंसें भी आयोजित की हैं और मास्टर तथा डॉक्ट्रेट की डिग्रियों के प्रोग्राम भी शुरू कर दिए हैं।

इस्लामी पूँजी-निवेश व्यवस्था की बढ़ती हुई लोकप्रियता की सम्भवतः एक वजह यह भी है कि विगत तीन दशकों में अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय व्यवस्था में बार-बार आनेवाले संकटों के कारण इस व्यवस्था के लिए एक नए ढाँचे की तलाश है। इस सम्बन्ध में जो बौद्धिक सामग्री प्राप्त हुई है उससे अंदाज़ा होता है कि दुनिया यह महसूस कर रही है कि वित्तीय व्यवस्था में बेहतर अनुशासन लाने की अत्यन्त आवश्यकता है। यह भी महसूस किया जा रहा है कि यदि निजी बचत की बुनियाद पर पूँजी-निवेश (Equity) पर ज़्यादा और क़र्ज़ पर कम निर्भरता हो तो संकटों की तीव्रता में ख़ासी कमी हो जाएगी। इस वजह से हम यह कहते हैं कि इस्लामी अर्थव्यवस्था के समझने में और उसकी उपयोगिता को स्वीकार करने में हर दृष्टि से प्रगति हुई है।

कठिनाइयाँ

इस्लाम की वित्तीय व्यवस्था को कुछ कठिनाइयों का भी सामना है। उनमें से कुछ कठिनाइयाँ तो स्वाभाविक हैं जिनका सामना एक नए तजुर्बे के आरम्भिक चरणों में अति आवश्यक है। उनमें से एक यह है कि अधिकतर इस्लामी बैंक बहुत छोटे हैं। उनकी औसत पूँजी एक बिलयन

डॉलर से भी कम है। और स्पष्ट है कि उनकी वजह से वे अपनी परिसम्पत्तियों का उस प्रकार फैलाव (Diversify) नहीं कर सकते जिस प्रकार जोखिम को कम करने के लिए ज़रूरी है। संसाधनों की कमी की वजह से उनके पास ऐसा स्टाफ़ भी नहीं जिसकी मदद से वे योजनाओं का मूल्यांकन (Evaluation) और निगरानी (Monitoring) कर सकें।

दूसरे यह कि चूँकि बैंक छोटे हैं और उनकी अपनी निजी पूँजी भी अपेक्षाकृत कम है इसलिए दो-तीन बड़े हिस्सेदार उन बैंकों के फ़ैसलों पर हावी हो जाते हैं।

तीसरे यह कि सहयोगी संस्थाओं (Shared Institutions) के मौजूद न होने की वजह से उन बैंकों को सब काम ख़ुद ही अन्जाम देने पड़ते हैं। उन कामों मे से एक क़र्ज़ लेनेवालों की साख निर्धारित करने (Credit Rating) का काम है। इस वजह से वे लाभ-हानि में भागीदारी की बुनियाद पर पूँजी-निवेश नहीं कर पाते और उनके अधिकतर संसाधन क्रय-विक्रय और लीज़ (Leasing) के पूँजी-निवेश में ख़र्च होते हैं। ब्याजरहित बैंकिंग के फ़ायदे और उपयोगिताएँ उस वक़्त तक प्राप्त नहीं हो सकतीं जब तक लाभ-हानि में भागीदारी की बुनियाद पर पूँजी-निवेश में वृद्धि न हो। यह उस वक़्त तक सम्भव नहीं जब तक अधिकतर सहयोगी संस्थाएँ मौजूद न हों। अल्लाह का शुक्र है कि अब इस्लामी विकास बैंक और केंद्रीय बैंकों के सहयोग से कई सहयोगी संस्थाएँ बन गई हैं या बनने की प्रक्रिया में हैं।

चौथे यह कि बैंकों के खातादारों और क़र्ज़ लेनेवालों की बहुसंख्या इस्लामी बैंकिंग की अस्ल अवधारणा एवं उद्देश्यों से पूर्णतः अवगत नहीं है और बैंकों के कर्मचारी भी जो ज़्यादातर पारम्परिक बैंकों से आए हुए हैं इस अवधारणा की ज़्यादा समझ नहीं रखते हैं।

पाँचवीं कठिनाई यह है कि एक इस्लामी वित्तीय मंडी की ग़ैर-मौजूदगी की वजह से इन बैंकों को अपनी अतिरिक्त नक़दी (Excess Liquidity) लाभ की योजनाओं पर अल्प अवधि के लिए इस्तेमाल करने का कोई रास्ता नहीं है और इन्हें पारम्परिक वित्तीय मंडी में जाना पड़ता है, जिसके कारण उनकी

आलोचना होती है। इसी प्रकार नक़दी की तंगी (Liquidity Crunch) की स्थिति में ज़रूरी नक़दी तक पहुँच में भी मुश्किल पेश आती है। क्योंकि नक़दी थी तंगी की स्थिति में नक़दी उपलब्ध करानेवाली कोई ऐसी संस्था (Lender of last Resort) नहीं जो ब्याजरहित तरीक़े पर नक़दी उपलब्ध कराने के लिए तैयार हो, इसलिए ये बैंक पारम्परिक बैंकों से ज़्यादा नक़दी रखने पर मजबूर होते हैं। इससे उनके लाभ पर बुरा असर पड़ता है। इन कठिनाइयों की वजह से इन बैंकों का विकास तेज़ होने के बावुजूद उस गति से कम है जो हो सकती थी। परन्तु आशा है कि समय के साथ-साथ इन कठिनाइयों में कमी आएगी और परिस्थितियाँ बदलने से उनके विकास की गति में और वृद्धि होगी।

कठिनाइयों का इलाज

इन कठिनाइयों का कोई ऐसा समाधान नहीं है कि एक बटन दबा कर तुरन्त सब कुछ ठीक कर दिया जाए। परन्तु चरणबद्ध रूप से इलाज करने के लिए पहल की तत्काल आवश्यकता है। जितना ज़्यादा विलम्ब होगा, उतनी ही समस्याएँ बढ़ती जाएँगी और उनका सामना करना कठिन होगा। इनमें से एक यह है कि सरकार और केन्द्रीय बैंक अपनी कार्यपद्धति को बदलें और इस्लामी बैंकिंग के लिए एक वातावरण बनाने की कोशिश करें।

अनुकूल वातावरण-बनाने के लिए कई चीज़ें दरकार हैं। उनमें से एक यह है कि इस्लाम की आर्थिक एवं वित्तीय व्यवस्था के लिए आवश्यकतानुसार क़ानूनी सुधार का काम किया जाए। यह सुधार कार्य मौजूदा क़ानूनों में कुछ पैवन्द लगा देने से नहीं होगा, बल्कि शरीअत के महान उद्देश्यों को सामने रखकर क़ानून बनाने से होगा। ताकि यही नहीं कि इस्लामी बैंकिंग की व्यवस्था मज़बूत हो, बल्कि यह भी कि साथ-साथ शरीअत के उद्देश्यों की प्राप्ति की ओर आगे बढ़ा जा सके। क़ानून बनाते समय उन सभी कमज़ोरियों को सामने रखना होगा जो हमारी बैंकिंग व्यवस्था में इस समय मौजूद हैं। एक दोषपूर्ण व्यवस्था को ज्यों-का-त्यों इस्लाम की गोद में डालना, इस्लाम के साथ बड़ी नाइनसाफ़ी होगी।

इसकी भी ज़रूरत है कि प्रशिक्षण की उचित व्यवस्था की जाए। इस बात को ध्यान में रखने की ज़रूरत है कि केवल खाता-धारकों, क़र्ज़ लेनेवालों और आम जनता ही के प्रशिक्षण की ज़रूरत नहीं है, बल्कि बैंकों के डायरेक्टरों, प्रबंधकों और कर्मचारियों को भी प्रशिक्षित करने की ज़रूरत है। इन सभी को इस चीज़ की अच्छी समझ होनी चाहिए कि इस्लामी बैंकिंग क्या है? उसके उद्देश्य क्या हैं? उसमें और ब्याज पर आधारित बैंकिंग की व्यवस्था में क्या अन्तर है? इस बात की भी ज़रूरत है कि क़र्ज़े लेनेवाले की साख का अन्दाज़ा हो। इसके लिए साख निर्धारक संस्थाओं (Credit Rating Agencies) की स्थापना ज़रूरी है।

अंकेक्षण (Accounting) एवं लेखा परीक्षण (Auditing) की प्रणाली को भी अत्यन्त बेहतर बनाने की ज़रूरत है ताकि उनकी रिपोर्ट से अन्दाज़ा हो सके कि हिसाब-किताब ईमानदारी से रखे गए हैं या नहीं और जो लाभ बताया गया है वह सही है? इसकी भी आवश्यकता है कि सभी बैंक मिलकर एक ऐसी तफ़्तीशी संस्था (Audit Organization) बनाएँ जिसके पास कोई भी सदस्य बैंक उस व्यवसायी को भेज सके जिसके बारे में सन्देह हो कि उसने बैंक को धोखा देने की कोशिश की है। ऐसी संयुक्त संस्थाओं के न होने की स्थिति में हर बैंक को तफ़्तीश के लिए जो व्यवस्था ख़ुद करनी होती है उससे उसकी लागत बहुत बढ़ जाती है।

चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स एवं ट्रेड एसोसिएशन्स जैसी संस्थाओं में भी समझ पैदा करने की ज़रूरत है कि वे उन व्यवसाइयों और उद्योगपतियों का आर्थिक एवं सामाजिक बॉयकाट करें जो बेईमानी करते हैं और यही नहीं कि बैंकों को धोखा देते हैं, बल्कि अपने ग्राहकों और हिस्सेदारों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करते हैं। यह भी ज़रूरी है कि शरई अदालतें (Shriah Courts) और बैंकिंग अदालतें (Banking Tribunals) स्थापित किए जाएँ ताकि बैंकों से सम्बन्धित विवाद का निपटारा तेज़ी के साथ हो।

इन बहुत-सारे सुधारों का यह मतलब नहीं कि जब तक ये लागू न हो जाएँ इस्लामी बैंकिंग की व्यवस्था की ओर क़दम नहीं बढ़ाया जाएगा। बल्कि हक़ीक़त यह है कि इन सुधारों को गम्भीरतापूर्वक लागू उसी समय किया

जाएगा जब इस्लामी अर्थव्यवस्था के समर्थन एवं प्रोत्साहन के लिए ज़रूरत पड़ेगी।

यहाँ यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो गई कि इस्लामी अर्थव्यवस्था तत्काल कोई छड़ी घुमाने से नहीं आ जाएगी, वह चरणबद्ध तरीक़े से आ सकती है। एक-एक चरण आगे बढ़ने में कोई हरज भी नहीं क्योंकि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने ख़ुद भी बहुत-से सुधार कार्यों को समाज में चरणबद्धता के साथ लागू किया था। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि इस्लामी व्यवस्था को लागू करने के लिए जिन चरणों की ज़रूरत है उनकी ओर बढ़ा ही न जाए या उसमें सुस्ती की जाए। यदि ऐसा किया गया तो इस्लामी अर्थव्यवस्था का सपना कभी साकार न हो सकेगा। इसलिए कुछ बुद्धिजीवी लोगों का यह कहना हमें बिल्कुल स्वीकार्य नहीं कि इस्लामी व्यवस्था उस समय तक लागू नहीं कर सकते जब तक समाज का सुधार न हो जाए। जहाँ समाज का सुधार ज़रूरी है वहाँ इस व्यवस्था की स्थापना के लिए निष्ठा और प्रतिबद्धता के साथ सम्बन्धित संस्थाओं की स्थापना की भी ज़रूरत है। जैसे-जैसे मौजूदा व्यवस्था का इस्लामी मापदण्डों के अनुसार सुधार होता जाएगा और सहयोगी संस्थाएँ जड़ पकड़ती जाएगी वैसे-वैसे ही इस्लामी व्यवस्था भी मज़बूत होती जाएगी और उसके फलों से लोग लाभान्वित होंगे।

इस समय दुनिया को एक नई व्यवस्था की ज़रूरत है जो न केवल यह कि आर्थिक विकास उपलब्ध कराए बल्कि लोगों की नैतिक अवस्था को भी आगे बढ़ाए। पारिवारिक-व्यवस्था को सुदृढ़ करे, आर्थिक असमानता को कम करे और लोगों के अन्दर प्रेम और भाईचारे के रिश्ते जोड़े। इस्लाम में यह क्षमता मुसलमानों के सदियों के पतन के बावुजूद आज भी मौजूद है। यदि हम इरादा कर लें और निष्ठापूर्वक प्रयास करें तो अल्लाह की मदद हमारे साथ होगी। जैसा कि अल्लाह ने हमें क़ुरआन में यक़ीन दिलाया है—

> "जो लोग हमारी राह में जिद्दोजुहद (जी-जान से प्रयास) करेंगे हम ज़रूर उन्हें अपने रास्तों की ओर रहनुमाई (मार्गदर्शन) करेंगे।" (क़ुरआन, 29:69)

उज्ज्वल भविष्य

अनगिनत कठिनाइयों के बावुजूद जिनमें सबसे आगे मुस्लिम देशों की उदासीनता है, इस्लामी बैंकिंग की व्यवस्था पिछले 25 सालों में तेज़ी से तरक़्क़ी करके सुदृढ़ बुनियादों पर खड़ी हो चुकी है। इस आन्दोलन से प्रतिभाशाली, निष्ठावान और साहसी लोगों की बड़ी तादाद जुड़ गई है जो इस व्यवस्था को आगे बढ़ाने और इसकी कठिनाइयों पर क़ाबू पाने की कोशिश कर रहे हैं। इस में किसी सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि इस्लाम के पुनरुत्थान के साथ-साथ यह व्यवस्था भी मज़बूत होती चली जाएगी। सवाल इस व्यवस्था के भविष्य का नहीं, वह तो उज्ज्वल है ही, सवाल इस बात का है कि हम इसकी मदद करके अल्लाह के सामने क़ियामत के दिन कामयाब होना चाहते हैं या इसकी राह में रोड़े अटकाकर दुनिया और आख़िरत दोनों में उसके अज़ाब (दण्ड) का पात्र बनना चाहते हैं?

***